हमारी बिरादरी

डॉ॰ लल्लनजी गोपाल

हमारी बिरादरी

डॉ. लल्लनजी गोपाल

हमारी बिरादरी

(A BOOK ON INTERNATIONAL UNDERSTANDING)
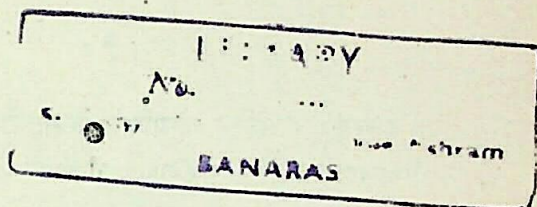
डॉ. लल्लनजी गोपाल

एम० ए०, डी० फिल० (इलाहाबाद). पी-एच० डी० (लन्दन), एफ़० आर० ए० एस०

रीडर : इतिहास-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
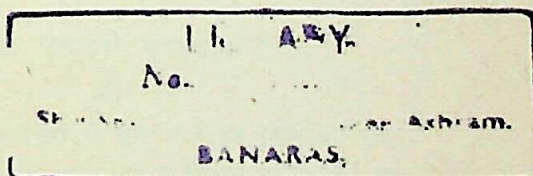
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी—१

A Book on International Understandi ng
(HAMARI BIRADARI)

•

[यूनेस्को के पेरिस कार्यालय के सहयोग से प्रकाशित]
Prepared with the Financial assistance of UNESCO.

•

प्रथम संस्करण
जून : १९६४

•

मूल्य
1 रु. 50 पै.

प्रकाशक
ओम्प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो. बॉ. नं. ७०, पिशाचमोचन
वाराणसी—१

मुद्रक
श्रीकृष्णचन्द्र बेरी
विद्यामन्दिर प्रेस (प्रा.) लि.
डी. १५/२४, मानमन्दिर
वाराणसी—१

पूज्य दादी-अम्मा

श्रीमती महादेवी मदनगोपाल

को

जिन्होंने अशक्त वृद्धावस्था में एक मातृहीन शिशु को अपने स्नेह के सहारे पाल कर उसके व्यक्तित्व का निर्माण किया, किन्तु उससे कोई सेवा स्वीकार करने के पहले ही २५ जनवरी, १९६४ को एकादशी के दिन अमरत्व प्राप्त किया।

प्रस्तावना

बिरादरी शब्द का प्रयोग हम अपने प्रतिदिन के जीवन में प्रायः करते रहते हैं। इसी के लिये अंग्रेजी में 'ब्रदरहुड' शब्द प्रयुक्त होता है। बिरादरी में आत्मीयता और संबंध की निकटता और गहराई का भाव रहता है; इसीलिए अब कुछ संगठन अपने को बिरादरी का नाम देते हैं। बरादरी शब्द कभी-कभी संकुचित अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और तब यह जाति या व्यवसाय विशेष के लिये आता है।

लेकिन हमारी बिरादरी की सीमाएँ विस्तृत हैं। पूरा मानव-समाज हमारी बिरादरी है और हम सब उसी बिरादरी के अंग हैं। अपनी बिरादरी के हितों को समझना और उसके लिये परिश्रम करना सभी का कर्तव्य है।

यह सन्तोष और हर्ष की बात है कि आज अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव बढ़ रहा है। मानव-प्रेम का धर्म आज संसार के कोने-कोने में जाति, देश और भाषा की झूठी सीमाओं को तोड़ कर फैल गया है। हर एक घर इस धर्म का मन्दिर है और प्रत्येक आदमी ही इस धर्म का आराध्य देवता है। हम सभी इस धर्म के प्रचारक हैं। हमारा कर्तव्य है कि झूठे झगड़ों और भेदभाव को दूर कर इस उच्च विचार की ज्योति, मानव की एकता की भावना का उज्ज्वल प्रकाश, दुनिया के कोने-कोने में फैलायें। हमारा प्रस्तुत प्रयास भी इसी महान् संकल्प की ओर एक नन्हा-सा कदम है।

इस पुस्तक की रचना मेरे बड़े भाई श्री चन्दन गोपाल, श्री कैलाशचन्द्र मिश्र और श्री कृष्णचन्द्र बेरी के आग्रह के कारण हुई है। श्री दिनेशकुमार शर्मा ने छपाई के बोझ को सँभाला है। मैं इन सभी सहायताओं को सधन्यवाद स्वीकार करता हूँ।

—लल्लनजी गोपाल

—:o:—

अनुक्रम

—:०:—

*

हमारी

बिरादरी

*

अध्याय/एक

भूमिका

आज की दुनिया अनेक दृष्टियों से एक इकाई बनती जा रही है। वैज्ञानिक खोजों के वरदान के फलस्वरूप संसार के विभिन्न भागों का अन्तर कम होता जा रहा है तथा समय और स्थान की दूरी घटती जा रही है। हम संसार के किसी भी कोने में थोड़े समय में ही पहुँच सकते हैं और वहाँ के समाचार बहुत कम समय में हम तक आ जाते हैं। संसार के विभिन्न भागों का भाग्य बहुत माने में मिल कर एक हो गया है। दूर के किसी भी देश में होनेवाली घटना का हमारे देश के भविष्य पर गहरा प्रभाव पड़ सकता है। शिक्षा और ज्ञान के परस्पर आदान के कारण कम से कम शिक्षित वर्ग में सांस्कृतिक जीवन, आदर्शों और विचारों के मामले में एकरूपता दिखलाई पड़ती है। भेद-भाव की दीवारें गिरती जा रही हैं और आदमी-आदमी का दिल एक होता जा रहा है।

संसार में आज अनेक समस्यायें अलग-अलग देशों की दृष्टि से नहीं बल्कि सारी दुनिया के हित की दृष्टि से, एक साथ और एक ही स्तर पर सोची और हल की जाती हैं। संयुक्त-राष्ट्र-संघ और उसके अंगों के कार्यों की सफलता के कारण आदमी के दिल में यह बात घर करती जा रही है कि मनुष्य की अनेक आवश्यकताओं और अनेक कार्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संस्थाएँ होनी चाहिये। पूरे संसार के लिये अनेक बातों के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय शासन-व्यवस्था हो, इस विचार के मानने वालों की भी संख्या बहुत अधिक है।

आज का समझदार आदमी यह जानता है कि संसार के सम्मुख भविष्य में दो प्रकार की संभावनायें हैं—या तो संसार की एकता को स्वीकार कर शान्ति और सहयोग के साथ रहना या कलह और भेद उत्पन्न करने वाली विनाशकारी प्रवृत्तियों के वश में आकर अपने को नष्ट कर डालना। विज्ञान का दुरुपयोग करके जो विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हो रहा है उनको देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि संसार का भविष्य दूसरी संभावना के अनुसार चला तो प्रलय-

कारी विनाश से मानव-समाज को बचाना असंभव हो जायगा ।

इतना कुछ होते हुए भी आज का आदमी संसार की एकता के लिए काम करने वाले लोगों और संस्थाओं को कभी-कभी पूरे रूप में सहायता नहीं दे पाता। उसके रास्ते में उसके सोचने के पुराने ढंग, कुसंस्कार और सदियों के संकीर्ण और भेद उत्पन्न करने वाले विचार रोड़े खड़े करते हैं। इन बाधाओं में प्रमुख विचार राष्ट्रीय भक्ति का है, जो मनुष्य के छिछले मन और उसके स्वार्थ को उकसा कर उसके दृष्टिकोण को सीमित और संकुचित कर देता है। वह बड़े पैमाने पर नहीं सोच पाता और पूरे संसार के लिए अपनी स्वामिभक्ति की भावना को बढ़ावा नहीं दे पाता। अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे की भावना बढ़ाने के लिये यह ज़रूरी है कि इन पिछड़े हुए विचारों के स्थान पर संसार को इकाई समझने वाले विचार को बढ़ावा मिले। इस पुस्तक में हम यह देखेंगे कि संसार की एकता और आदमी के भाई-चारे के विचार कोई आज ही उत्पन्न नहीं हुए हैं। बहुत पहले से आदमी इस ढंग से सोचता

चला आ रहा है और उसने समय-समय पर इसको कार्य-रूप में भी प्रयुक्त किया है। संसार की प्रसिद्ध सभ्यताओं, धर्मों और विचारकों ने भी ऐसे भाव रखे हैं। यह गौरवमय इतिहास शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के समर्थकों के विचारों का समर्थन करता है और उनके हाथों को मजबूत करता है।

अध्याय/दो

प्राचीन काल की सभ्यतायें

मनुष्य के जितने भी गुण या जितनी भी विशेषतायें हैं, जिनके अनुसार उसकी परिभाषा दी जाती है, उनमें एक यह भी है कि वह एक सामाजिक प्राणी है। वह अपना अधिकांश कार्य समूह में रह कर करता है। वह समझता है कि दूसरे मनुष्यों की भलाई और उसकी स्वयं की भलाई में विरोध नहीं है, बल्कि सब का हित इसी में है कि वे सामूहिक जीवन बितायें और जहाँ तक संभव हो अपने कार्य एक समूह के रूप में करें। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह बात ग्रीस के प्रसिद्ध विद्वान और विचारक अरस्तू ने कही थी। लेकिन आज हर एक सोचने-समझने वाला व्यक्ति इस बात को स्वीकार करता है। यह एक ऐसा सत्य बन गया है जिसको सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण या तर्क को नहीं ढूँढ़ा जाता।

संसार के इतिहास के शुरू में आदमी के दिल में क्या भाव उठते थे, वह दूसरे आदमियों के बारे में क्या

सोचता था, उसमें भाई-चारे के भाव कहाँ तक जागे हुए थे और अपने से अलग और भिन्न समूहों के साथ एकता स्थापित करने के लिये उसकी क्या कल्पना थी, इन सभी प्रश्नों का निश्चित उत्तर देना कठिन है। उस समय जब कि अक्षरों और लिपि का जन्म नहीं हो पाया था मनुष्य अपने विचारों को स्थायी रूप देने और आगे आने वाली पीढ़ी के लिए उन्हें संजोने के लिये कोई भी सफल काम नहीं कर पाया।

लेकिन इतना तो हम उस समय के प्रमाणों को पाये बिना भी केवल कल्पना और तर्क के सहारे कह सकते हैं कि विभिन्न वर्गों और समूहों में परस्पर सम्पर्क सदैव प्रारंभ से ही किसी न किसी रूप में रहा होगा। सभी प्रकार के सामाजिक समूह, कबीले, जाति और राष्ट्र मनुष्यों के परस्पर मिलने से ही बने हैं। जिन कारणों से, जिन इच्छाओं और आवश्यकताओं से प्रेरित होकर मनुष्य अपना एक समाज बनाता है, उन्हीं के कारण विभिन्न सामाजिक समूहों में भी परस्पर मेल, सहयोग और सम्पर्क स्थापित होते हैं। इसलिए संसार के इतिहास के प्रारंभ से ही विभिन्न समूहों को एक

दूसरे के सम्पर्क में आने और किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होने का मौका मिलता रहा होगा। पास के कबीले और समूहों के साथ किसी न किसी रूप में उनका व्यापार अथवा सामग्रियों का आदान-प्रदान चलता रहा होगा, भोजन अथवा दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कभी-कभी अपना स्थान छोड़ कर उन्हें दूसरे स्थानों की यात्रा करनी पड़ती होगी और इस प्रकार नये लोगों के सम्पर्क में वे आते होंगे। कभी-कभी अपने से भिन्न वर्गों के व्यक्तियों का सत्कार करने और उनकी सुरक्षा के लिए कोशिश करने का भी मौका आता रहा होगा। लेकिन कोई जरूरी नहीं है कि ऐसे सम्पर्क और दूसरे के संबंध में आने की बात केवल शान्ति के समय में ही उठती थी। हमें इस संभावना का भी महत्व समझना चाहिए कि और कुछ नहीं तो युद्ध और कलह के द्वारा भी ये कबीले और समाज एक दूसरे के नजदीक आये होंगे। इस प्रकार चाहे मामूली पैमाने पर ही सही सामाजिक वर्गों को एक दूसरे को समझने, संस्कृति के आदान-प्रदान का और परस्पर एकता के विचार को बढ़ाने का कुछ-न-कुछ

अवसर बहुत पहले से ही मिलता रहा होगा। इन कबीलों के परस्पर सम्पर्क और प्रभाव का दायरा धीरे-धीरे बढ़ता ही गया होगा। जिस प्रकार किसी स्थिर जलाशय में कोई ढेला फेंकने पर लहरियाँ उठती हैं, जिनका घेरा धीरे-धीरे फैलता जाता है, उसी प्रकार ये सम्पर्क सीमित नहीं रह पाये होंगे।

गुहानिवासी मानव-परिवार

संसार के विभिन्न भागों से पाषाण-युग की सभ्यताओं के जो अवशेष मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि लोगों का मेल आकस्मिक या क्षणिक नहीं रह गया था। उनके सामूहिक जीवन में हम एक स्पष्ट और

सुनिश्चित योजना देखते हैं। ऐसा लगता है कि उन्होंने जन्म से मरण तक के सभी कामों में परस्पर सहयोग और सामूहिक जीवन की आवश्यकताओं को महसूस किया था और उसके अनुसार काम भी किया था। यद्यपि परिस्थितियों, भौगोलिक और जलवायु की दशा, के अनुसार इनकी सभ्यता में कुछ भेद और इनकी विशेषतायें दिखलाई पड़ती हैं फिर भी एक ही प्रकार की स्थिति में रहने वाले और समीप के कई कबीले और बस्तियों में अद्‌भुत समानता भी मिलती है। स्पष्ट है कि इन बस्तियों के लोग समय और स्थान की दूरी के बावजूद भी एक दूसरे के सम्पर्क में आते थे और विचारों और संस्कृति के तत्वों का आदान-प्रदान करते थे। इस युग की सभ्यताओं का अध्ययन करने से लगता है कि कई कबीले और समाजों ने अपना मूल स्थान छोड़ कर बहुत दूर-दूर के देशों की यात्रा की, वहाँ जाकर बसे और इस प्रकार सभ्यता की प्रगति को वहाँ भी फैलाया। उस युग की प्राकृतिक बाधाओं को सोचते हुए मनुष्य का इतनी दूर की यात्रा करना और इस प्रकार संस्कृति की एकता के लिए अनजाने ही कार्य

करना सचमुच अद्भुत, रोमांचकारी और आज के युग में मानव-मानव की एकता और भाई-चारे के लिये प्रयत्न करनेवालों के लिए उत्साह बढ़ानेवाली बात है।

इन पाषाणकालीन संस्कृतियों के बाद पहली बार सुनिश्चित प्रकार से सभ्यता का जन्म नदियों की घाटियों में हुआ था। नील, दजला-फरात, सिन्धु और यांग्त्सेक्यांग नदियों की घाटियों ने ही सबसे पहले संस्कृति के विकास की कहानी सुनी। इनमें से मिस्र और मेसोपोटामिया के राज्यों के बारे में तो हमें वहाँ से प्राप्त सामग्रियों से काफी बातें मालूम होती हैं किन्तु चीन और सिन्धु-घाटी की सभ्यताएँ इस विषय में मौन जैसी हैं। शुरू-शुरू में इन स्थानों में नगर-राज्य ही स्थापित हुए जो धीरे-धीरे कुछ बड़े राज्यों में बदल गये थे। इन राज्यों को छोड़ कर बाकी अधिकांश प्रदेश जंगलों से भरे हुए थे, जिनमें कहीं-कहीं पर असभ्य और जंगली जातियाँ रहती थीं। इस प्रकार ये राज्य असभ्यता के विस्तृत रेगिस्तान में छोटे-छोटे नखलिस्तान जैसे थे। इन राज्यों का ध्यान हमेशा अपनी सुरक्षा को मजबूत बनाने और अगर संभव हुआ तो अपने

कमजोर पड़ोसी राज्य को पराजित करके अपने राज्य की शक्ति को बढ़ाने की ओर था। लेकिन इसके माने यह नहीं है कि इन राज्यों में आपस में कोई शान्तिपूर्ण संबंध नहीं थे। इन राज्यों में भी समय-समय पर सन्धि और मैत्री के संबंध स्थापित होते थे, शान्ति फैलती थी तथा व्यापार और परस्पर मिलन संभव होता था। संसार के इतिहास की सबसे पहली संधि जिसका ज्ञान हमें है ईसा से लगभग ३००० वर्ष पहले की है। उम्म और लगश के राजाओं के बीच सीमा के संबंध में झगड़ा था। मामले के फैसले के लिए किश के राजा मेसिलिम को पंच बनाया गया। उसने अपने पड़ोसियों के झगड़े को सुलझा दिया। इस उदाहरण के बल पर हम कह सकते हैं कि उस युग में इन राज्यों के बीच में ऐसी संधियाँ और इस प्रकार से पंचों के द्वारा झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों से निर्णय कोई असाधारण बात नहीं थी।

ये नगर-राज्य अपनी विशेषतायें रखते हुए भी अनेक मामलों में सांस्कृतिक दृष्टि से एक थे। उदाहरण के लिए सिन्धु-घाटी की सभ्यता को ही देखें।

इसके दो प्रसिद्ध केन्द्र पाकिस्तान के हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो नाम के स्थानों में थे। लेकिन यह संस्कृति सिन्धु की घाटी तक ही सीमित नहीं थी। इसका विस्तार पूर्व में भी बहुत दूर तक संभवतः मेरठ के आलमगीरपुर स्थान तक था। इसी प्रकार उत्तर में अम्बाला जिले के रूपड़ नाम के स्थान से दक्षिण में भड़ौच के पास तक यह फैली हुई थी। इस संस्कृति की जो विशेषतायें हैं वे इस बड़े प्रदेश के सभी स्थानों में दिखलाई पड़ती हैं, जिससे लगता है कि इन नगरों और केन्द्रों में आश्चर्यजनक सांस्कृतिक एकता थी, जो परस्पर सम्पर्क के कारण ही संभव हुई होगी। सिन्धु-घाटी की सभ्यता के लोगों का भारत से बाहर रहने वाले लोगों से भी संबंध था। ऐसा मालूम होता है कि सिन्धुघाटी के लोग इन देशों में व्यापार के लिये जाते थे। ये लोग समुद्रों के मार्ग से इन देशों में जाते थे। गुजरात में लोथल नाम का स्थान इनका एक ऐसा ही बन्दरगाह था जिसके द्वारा ये विदेशों से अपना संबंध बनाते थे। कुछ विद्वानों का तो यह भी कहना है कि उस युग में सुमेरिया के लोगों और सिन्धु-घाटी

की सभ्यता के लोगों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी होता था। किन्तु निश्चित प्रमाणों की कमी के कारण
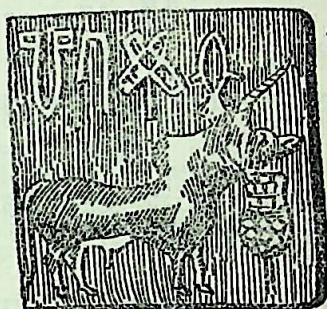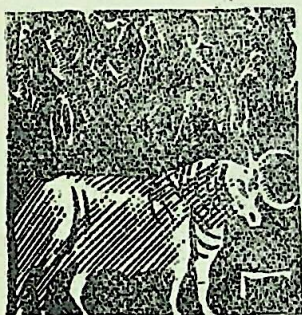
मोहेंजोदड़ो की मोहरें
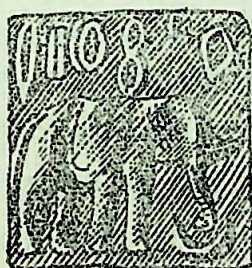
इन प्रभावों का स्वरूप सही प्रकार से नहीं बतलाया जा सकता है।

मिस्र के राज्य का लक्ष्य दूसरे राज्यों से कुछ भिन्न था। यद्यपि मिस्र भी दूसरे राज्यों के साथ युद्ध

करता था फिर भी मिस्र के लोगों का हित इसी में था कि वे दूसरे देशों के साथ मित्रता और शान्ति के संबंध बनाये रखें। ईसा पूर्व १२७८ में मिस्र के राजा रमसेस द्वितीय और हित्ती नरेश हत्तुशिलिश में एक सन्धि हुई जो अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास का एक भव्य लेख है। इस में दोनों पक्षों ने सहस्रों देवी-देवताओं को साक्षी बना कर यह तय किया कि वे परस्पर युद्ध नहीं करेंगे और एक-दूसरे की रक्षा करेंगे तथा दूसरे राज्य में होने वाले विद्रोहों को दबाने में सहायता करेंगे और न्याय के पंजे से भागने वालों को शरण नहीं देंगे, बल्कि उन्हें बन्दी बना कर दूसरे राज्य के अधिकारियों के पास लौटा देंगे। इस सन्धि के फलस्वरूप दोनों राज्यों के बीच लगभग पचास वर्षों तक शान्ति बनी रही।

१११० ईसा पूर्व में मिस्र में एक राजदूत चीन से आया था। विदेशी यात्रियों की रक्षा का पूरा प्रबन्ध किया जाता था। एक अभिलेख से मालूम होता है कि साइप्रस के रहने वाले एक ऊन के व्यापारी की मिस्र में मृत्यु हो गई। मिस्र राज्य के अधिकारियों ने उसके सामान को अपने अधिकार में कर लिया और बाद में उनकी एक सूची बना कर उन्हें उपयुक्त अधि-

कारियों के द्वारा साइप्रस भेज दिया। विदेशियों को उचित अधिकार देने और उनके साथ बराबरी का बर्ताव करने के मामले में मिस्र के लोग उस समय की अन्य सभ्यताओं से बहुत आगे थे। एक विदेशी का मिस्र के लोगों के साथ विवाह कानून की दृष्टि में जायज़ था। विदेशों से आ कर लोग मिस्र में बस सकते थे और मिस्र के आर्थिक जीवन में भाग ले सकते थे।

मिस्र के धार्मिक जीवन में भी एक विचारधारा ऐसी थी, जो मानवीय समानता के भाव की समर्थक थी। इस विचार के अनुसार ईश्वर के सामने सभी बराबर हैं। इसी परम्परा के प्रकाश में हम मिस्र के नरेश अमेनोफ़िस के कार्यों का महत्व समझ सकते हैं। उसने एक सार्वभौम साम्राज्य और एक सार्वभौम धर्म की स्थापना करनी चाही, जिसमें अनेक देवताओं की पूजा के स्थान पर उसने एटन नाम के एक सर्वशक्तिमान देव की पूजा चलाई।

उस युग में सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कार्य में सुमेरियन, बेबीलोनियन, फ़ोनेशियन, और आरमे-

नियन लोगों ने विशेष भाग लिया। इन लोगों की व्यापार में रुचि थी। बेबीलोन तो व्यापार के द्वारा पूर्व और पश्चिम के देशों को जोड़नेवाली एक मज़बूत कड़ी थी। जल-मार्ग के अलावा स्थल-मार्ग के द्वारा भी इन देशों के बीच संबंध होते थे। बेबीलोन का स्थान इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इतना महत्वपूर्ण था कि बेबीलोन की भाषा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की
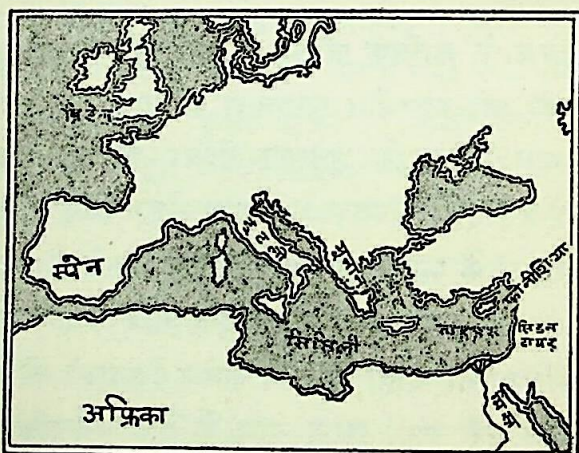
फोनेशिया और उसके समीप के देश

भाषा बन गई और बेबीलोन के व्यापारिक नियम दूसरे देशों में भी माने जाते थे। पश्चिमी एशिया

में कई नगर इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के केन्द्र होने के कारण समृद्ध हो गये। एशिया माइनर में स्थित ट्राय नाम का नगर तो अन्तर्राष्ट्रीय मेलों के लिए प्रसिद्ध था। फोनेशियन और आरमेनियन लोगों ने पश्चिमी भूमध्यसागर में अपना व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित किया था। व्यापार के लिए पश्चिम की ओर बढ़ते हुए वे जिब्राल्टर तक पहुँचे थे। इस प्रकार उन्होंने सांस्कृतिक एकता स्थापित करने और सभ्यता को फैलाने में महत्व-पूर्ण सहायता की।

फोनेशियन नाविक

असीरियन लोग सांस्कृतिक मामलों में अधिक रुचि नहीं रखते थे। उनकी प्रवृत्ति युद्ध और विजय की ओर थी। उनके युद्धों के कारण अल्पकाल के

लिए ही सही उस समय के सभ्य जगत के एक बहुत बड़े हिस्से पर एक राज्य स्थापित हुआ।

लेकिन इतिहास में जिसे हम पहला विश्व-साम्राज्य कह सकते हैं वह फ़ारस के लोगों ने स्थापित किया था। उनका साम्राज्य भारत में सिन्धु नदी से योरप में ईजियन सागर तक फैला हुआ था। इस बड़े राज्य में अनेक प्रकार के लोग अपनी स्वयं की संस्कृति और सभ्यता को मानते हुए स्वतंत्रता और शान्ति से रहते थे। फिर भी फ़ारस के राज्य ने विभिन्न दूर की सभ्यताओं को एक दूसरे से मिलने का अवसर प्रदान किया। एक जैसी शासन-व्यवस्था फैला कर और सांस्कृतिक तत्वों के आदान-प्रदान को सहायता देकर फ़ारस ने परस्पर मेल और सद्भाव के विचार को बढ़ावा दिया।

अध्याय/तीन

ग्रीस और रोम की देन

प्राचीन ग्रीस और रोम ने पश्चिमी सभ्यता के स्वरूप, उसके आदर्श और उसकी संस्थाओं के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया है। विश्व की सभ्यता में जो बातें पश्चिमी जगत से आई हैं उनमें ग्रीस और रोम का क्या स्थान है, इसको जानना महत्वपूर्ण है। कुछ विद्वानों का तो यह विचार है कि आधुनिक संसार में जितनी भी बातें हैं, उनका मूल किसी-न-किसी रूप में इन देशों में ढूँढ़ा जा सकता है। यद्यपि इन बातों में अतिशयोक्ति स्पष्ट है फिर भी हमारे लिए यह रोचक विषय है कि मानवीय एकता और भाई-चारे के भाव और संस्थाएँ इन देशों में किस रूप में विकसित हुई थीं।

ग्रीस देश और उसके समीप के द्वीप अनेक नगर-राज्यों में बँटे हुए थे। ये प्रायः आपस में लड़ा करते थे। किन्तु इन युद्धों के होते हुए भी इन राज्यों में सांस्कृतिक एकता थी। इन राज्यों की भाषा एक थी,

इनके सामाजिक और राजनीतिक आदर्श और संस्थाएँ मूल रूप में एक ही जैसी थीं और इनका धर्म भी समान
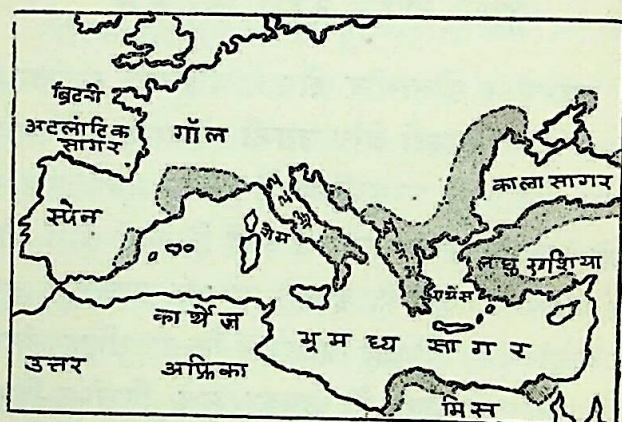
ग्रीक सभ्यता का प्रसार

था। इनको यह भी मालूम था कि वे एक ही ग्रीक जाति के लोग हैं। इन कारणों से ग्रीक लोग चाहे वे किसी भी राज्य के क्यों न हों अपने को एक संस्कृति में बँधा हुआ समझते थे। बाहरी शत्रुओं से भय होने पर ये राज्य अपना कलह भूल एक होकर आक्रमण का विरोध करते थे, यद्यपि उनकी यह एकता अधिक समय तक नहीं बनी रहती थी। ४९० ई० में जब फ़ारस के सम्राट् के आक्रमण की विपत्ति आई, तो

सभी ग्रीक राज्यों ने सम्मिलित होकर शत्रु का सामना किया और उसे 'मरेथन' के प्रसिद्ध युद्ध में हराया। जब दूसरी बार फ़ारस के आक्रमण की संभावना हुई तो ग्रीक राज्यों ने हेलेनिक संघ की स्थापना की।

यद्यपि सभी ग्रीक राज्यों के विदेशी मामलों और राजनीतिक समस्याओं का सामूहिक रूप से प्रबंध करने के लिए कोई स्थायी संघ नहीं बन पाया तथापि उस दिशा में कुछ कार्य अवश्य हुआ। ग्रीक राज्यों के दो अलग-अलग संघ-राज्य थे——एथेन्स और उसके मित्र राज्य डेलिअन संघ के रूप में संगठित थे; इसी प्रकार स्पार्टा और उसके दल के राज्यों ने पेलोपोने-शियन संघ की स्थापना की थी। ये संघ अपने सदस्यों के झगड़ों का निपटारा करते थे और सभी के हितों के कामों को सामूहिक रूप में करते थे।

ग्रीक राज्यों में परस्पर सन्धियाँ भी होती थीं, जो कभी लम्बे और कभी थोड़े समय के लिये शान्तिपूर्ण संबंध स्थापित करती थीं। ऐसी संधियाँ कभी-कभी व्यापारिक मामलों के लिये भी की जाती थीं। यद्यपि ग्रीक राज्यों में वर्तमान काल के अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों

जैसे नियम सुनिश्चित रूप से स्थापित नहीं हो पाये थे फिर भी इन राज्यों में कुछ सर्वमान्य रिवाज़ों का चलन था। उदाहरण के लिए सन्धि करने अथवा तोड़ने की निश्चित परिपाटी थी। इसी प्रकार राजदूतों के अधिकारों के संबंध में भी कुछ प्रचलित नियम और धारणायें थीं। ग्रीक लोग प्रायः यह स्वीकार करते थे कि कुछ सार्वभौम साधारण नियम हैं जो सभी व्यक्तियों के लिए लागू होते हैं।

लेकिन ग्रीक राज्यों का हमारी दृष्टि में जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण विकास था वह झगड़ों और कलहों को शान्तिपूर्वक मध्यस्थों की सहायता से निपटाने का रिवाज था। कभी-कभी सन्धियों में भी यह शर्त रखी जाती थी कि दोनों पक्षों में जो झगड़े उठेंगे वे मध्यस्थों के द्वारा सुलझाये जायेंगे। मध्यस्थता के लिए या तो दोनों पक्षों के द्वारा चुने गये व्यक्तियों की सभा, या कोई तीसरा राज्य, या डेल्फ़िक भविष्य-वाणी अथवा ऐम्फ़िक्टचोनिक परिषद् का सहारा लिया जाता था। इनके ऐम्फ़िक्टचोनिक नाम के संघ धार्मिक होते थे। ये मन्दिरों में पूजन और धार्मिक

उत्सवों को सामूहिक रूप से मनाने का प्रबन्ध देखते थे। डेल्फी का धार्मिक संघ बहुत प्राचीन था। वर्ष में इसकी दो बैठकें होती थीं---डेल्फी और थर्मोपिली में। इनमें बारह ग्रीक जातियों में से हर एक को दो-दो वोट का अधिकार था। इस संघ का संघटन राज्यों के आधार पर नहीं हुआ था। इस संघ ने ग्रीक लोगों में धार्मिक एकता बढ़ाई, अनेक अवसरों पर उनके कलहों की मध्यस्थता की और युद्धों में होने वाली बर्बरता को कम किया। इस प्रकार यह संघ कई मामलों में वर्तमान काल के अन्तर्राष्ट्रीय संघों से मिलता-जुलता था।

सिकन्दर महान् केवल अपनी वीरता, सैनिक योग्यता और विजयों के कारण ही नहीं प्रसिद्ध है। विश्व के इतिहास में उसका अपना स्थान है जो उसके ऊँचे आदर्शों और उसके कार्यों के प्रभाव के कारण है। उसका जीवन-काल इतना छोटा था कि वह अपने कार्यों को मज़बूत और स्थायी बनाने का काम नहीं कर सका। फिर भी उसने जो कुछ किया, उसका संसार के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने

पूर्व और पश्चिम के देशों को, जिनके बीच की भौगोलिक दूरी उस काल के हिसाब से बहुत अधिक थी, एक-दूसरे

सिकन्दर

के निकट सम्पर्क में पहुँचाया और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के द्वारा एकता और मैत्री के विचार बढ़ाये। उसका साम्राज्य ग्रीस से भारत तक फैला हुआ था। उसने पूर्व और पश्चिम को एक करने के लिए परस्पर विवाह को भी बढ़ावा दिया। ग्रीक लोग पूर्व के देशों में जा कर बसे। उनकी यह बस्तियाँ छोटे-छोटे सांस्कृतिक उपनिवेशों के रूप में थीं। इस प्रकार पूर्व के देशों ने ग्रीक संस्कृति के प्रभाव में कुछ नई बातें

सीखीं। स्वयं ग्रीक सभ्यता पूर्व के प्रभाव से अछूती नहीं बची। पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं के मिलन के कारण ग्रीक सभ्यता के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ। ग्रीक सभ्यता का स्वरूप और दृष्टिकोण व्यापक हो गया। ग्रीक सभ्यता का स्वरूप सिकन्दर की विजयों और पूर्व के देशों के साथ सम्पर्क के कारण इतना बदल गया कि उसे हेलेनिस्टिक सभ्यता के नाम से पुकारा गया।

इस युग में जो परिवर्तन हुए उनके फलस्वरूप शिक्षित और सभ्य लोगों में विचारों और भावों की एकता बढ़ी। अपने देश और राज्य के बाहर के लोगों के लिए सोचना, उनके प्रति सहानुभूति रखना और उनके साथ अपनी किसी भी रूप में एकता को समझना– इस प्रकार की विश्वबन्धुत्व की भावना हेलेनिस्टिक युग में विशेष रूप से विकसित हुई और रोमन काल में भी किसी विशेष परिवर्तन के बिना वह दिखलाई पड़ती है। इस युग में तीन प्रमुख दर्शन-सिद्धान्त थे, सिनिक, स्टोइक और एपीक्यूरियन। इनमें से सिनिक और स्टोइक विशेष रूप से राज्यों के विरुद्ध

थे और व्यापक विश्वबन्धुत्व की भावना में विश्वास रखते थे। इन सिद्धान्तों का प्रभाव रोमन काल और उसके बाद भी योरुप के ऊपर दिखलाई पड़ता है। स्टोइक लोगों का विचार था कि प्रारंभ में जब मनुष्य का जन्म प्रकृति के हाथों हुआ तो सभी मनुष्य बराबर थे और स्वतंत्र थे तथा वे स्वभाव से शान्तिप्रिय और भले थे। उन का विचार था कि उस समय सम्पत्ति का झगड़ा नहीं होता था। इसलिए उनका सुझाव था कि मनुष्य को प्रकृति के नियमों के अनुकूल रहना चाहिए। इससे सभी नैतिक और सामाजिक बुराइयाँ दूर हो जायेंगी। प्रसिद्ध स्टोइक विचारक 'ज़ेनो' ने एक विश्व-राज्य की कल्पना की, जिसमें पूरी मानव-जाति स्वतंत्रता और बराबरी के साथ रहे, जिसमें राज्य की ओर से कोई नियम न हों और जिसमें सभी वस्तुओं पर सभी लोगों का समान रूप से अधिकार हो।

अपनी सीमा के विस्तार के कारण रोमन-साम्राज्य उस समय की दृष्टि से विश्वव्यापी साम्राज्य कहा जा सकता है। ट्रोजन (९८-११७ ई०) के राज्यकाल में,

जब कि रोमन-साम्राज्य की सीमाएँ सबसे अधिक थीं, रोमन-साम्राज्य में ४४ प्रान्त थे, जो स्काटलैंड से भारत की सीमा तक फैले हुए थे। उस समय के अन्य राज्यों के साथ अपने राजनीतिक संबंधों में रोम
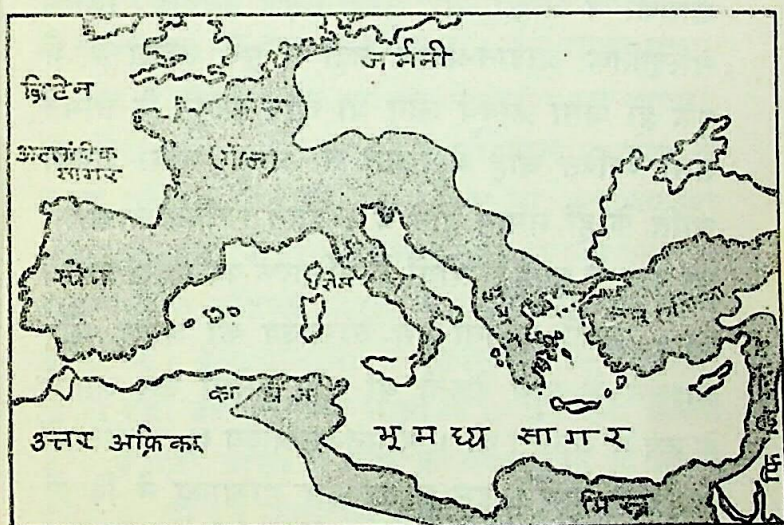
रोमन-साम्राज्य का विस्तार

के शासक, चाहे जाने अथवा अनजाने, विश्व-साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्न करते रहते थे। रोमन विजेताओं ने अपनी सैनिक शक्ति से पहले के अनेक राज्यों का अन्त करके उनको एक में मिला दिया था।

रोमन-साम्राज्य एक विशाल साम्राज्य था जिसमें अनेक प्रकार के लोग और संस्कृतियाँ मिली हुइ थीं। इतने बड़े साम्राज्य की शासन-व्यवस्था एक जैसी थी। शासन की सुविधा के लिए और सैनिक कार्यों के लिए रोमन शासकों ने अच्छी और लम्बी सड़कें बनवाईं, जिनसे सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ा। पूरे साम्राज्य में एक ही जैसा कानून लागू था और कानून के सामने सभी व्यक्ति चाहे वे किसी भी प्रान्त, भाषा अथवा जाति के हों समान होते थे। इतने विशाल साम्राज्य का बाद के युगों के लोगों के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव था। उनकी कल्पना इस साम्राज्य को आदर और आश्चर्य के साथ देखती थी और हमेशा उसे आदर्श के रूप में मानती थी। रोमन-साम्राज्य छः शताब्दियों तक बना रहा। इस प्रकार इस साम्राज्य ने जितने अधिक समय के लिए और जितने अधिक लोगों को एक करके उन्हें शान्ति और खुशहाली दी, उतना उसके बाद कभी भी देखने को नहीं मिला।

उस समय के सभ्य संसार में जो दूर पर स्थित साम्राज्य थे उनके साथ रोम के मित्रतापूर्ण और व्यापार

के संबंध चलते थे। रोम और इन राज्यों के बीच दूतों का भी आदान-प्रदान होता था। दक्षिणी भारत के एक राजा ने रोम को राजदूत भेजा था। इसी प्रकार रोम ने १६५ ई० में एक दूतमण्डल चीन में भेजा था। उस समय चीन, भारत और रोम के बीच स्थल-मार्ग से बड़े पैमाने पर व्यापार होता था। यह रास्ता मध्य-एशिया से होकर जाता था और बेबीलोन इस व्यापार का केन्द्र था। इस रास्ते से होनेवाले व्यापार में सबसे अधिक महत्व का माल रेशम था, इसलिए यह 'रेशम का मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध था। रोम के व्यापारी जल-मार्ग से दक्षिणी भारत के बन्दरगाहों तक यात्रा करते थे। इन यात्राओं के उल्लेख रोमन-साहित्य में ही नहीं बल्कि तमिल भाषा के ग्रन्थों में भी मिलते हैं। दक्षिणी भारत में रोम के अनेक सोने के सिक्के मिले हैं, जो इन बातों का समर्थन करते हैं।

अध्याय/चार

ईसाई धर्म और मध्यकालीन योरप

योरप में ईसाई धर्म से पूर्व अथवा उसके प्रभाव से अलग जो विश्व-बन्धुत्व के विचार उत्पन्न हुए वे ईसाई धर्म से प्रभावित विचारों से भिन्न थे। ईसाई धर्म ने ही सभी मनुष्यों को समान रूप से मुक्ति की संभावना का रास्ता बतलाया। ईसाई धर्म ने इस विचार का विरोध किया कि कोई एक विशेष राष्ट्र या जाति को ही ईश्वर की विशेष कृपा या सुरक्षा प्राप्त है अथवा कोई विशेष देवता उसी राष्ट्र या जाति की ही सम्पत्ति है। इसके स्थान पर ईसाई धर्म में सभी राष्ट्र और जातियों को ईश्वर के सम्मुख बराबर बतलाया गया। ईसाइयों की धर्म-पुस्तक प्राचीन टेस्टमेण्ट में ही ऐसे उल्लेख हैं, जिनसे मालूम होता है कि प्रारंभ से ही ईसाई धर्म के मुक्ति के सन्देश को सभी लोगों के लिए खोलने का उद्देश्य था। सेण्ट पाल ने, जिनका महत्व ईसाई धर्म में ईसा मसीह के बाद सबसे अधिक समझा जाता है, ईसाई

हमारी बिरादरी--

ईसा का प्राणोत्सर्ग

*
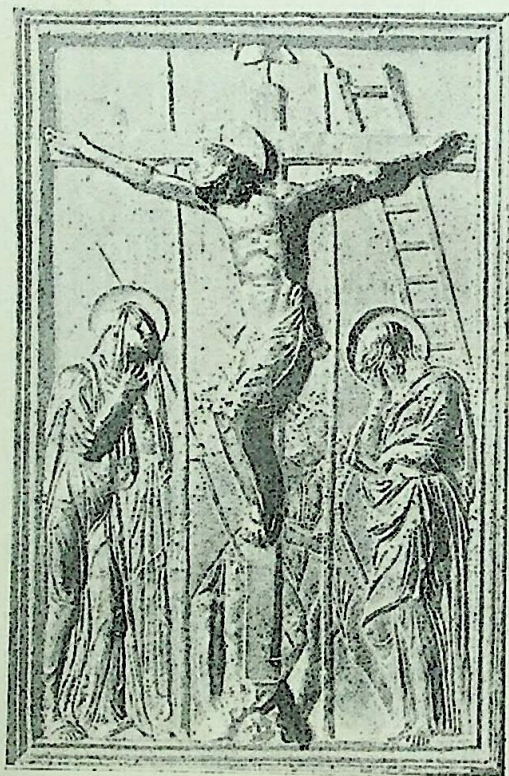
धर्म को और अधिक व्यापक बनाया। नवीन टेस्ट-मेण्ट में व्यापक विश्व-बन्धुत्व की यह भावना स्पष्ट

सेन्ट पाल द्वारा ईसाई-धर्म का प्रचार

रूप से देखने को मिलती है जिसमें धर्म के सन्देश का द्वार सभी राष्ट्र, जाति और भाषा के असंख्य आदमियों के लिए खुला हुआ है। इसी प्रकार ईसाई धर्म में यह भी विचार था कि ईसा मसीह ने जो अपने प्राण त्यागे, वह सम्पूर्ण मानव-जाति के हित के लिए था और उनके इस पुण्य के कारण सभी व्यक्तियों के पाप धुल गये।

धार्मिक दृष्टि से आदमियों की समानता के इस विचार के अलावा ईसाई धर्म में मानव-मानव के प्रेम और उनको सामाजिक जीवन में बराबर का महत्व

देने का भाव मिलता है। ईसाई धर्म दलितों, पीड़ितों और निर्धनों के धर्म के रूप में ही शुरू हुआ था। ईसाई धर्म में 'सर्मन ऑन दि माउण्ट' नाम से जो नैतिक और सदाचार की शिक्षायें दी गई हैं, उनमें ऐसे व्यक्तियों को अच्छा, धार्मिक और पुण्य वाला कहा गया है, जो गरीब हैं, जो दुःखी हैं, जो सत्य के लिए भूखे और प्यासे भी रहते हैं, जो दयालु हैं, जो पवित्र दिलवाले हैं, जो शान्ति फैलाते हैं और जो सत्य के लिए अत्याचार भी सहते हैं। ऐसे सुन्दर चरित्र की कुछ शिक्षाएँ बहुत ही अच्छी और प्रसिद्ध हैं, जैसे–बुरे का विरोध भी न करो, बल्कि यदि कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर चपत मारे तो उसकी ओर दूसरा गाल भी कर दो; अपने शत्रुओं को भी प्यार करो; जो तुम्हें श्राप दें उन्हें तुम आशीर्वाद दो और जो तुमसे घृणा करें अथवा तुम पर अत्याचार करें उनके लिए भी तुम प्रार्थना करो। ईसाई धर्म ने अपने जन्म के समय में प्रचलित उस विचार को अपना लिया, जिसमें कहा गया था कि संसार के शुरू में जबकि सुख की दशा थी, सभी चीजों पर सभी का समान अधिकार

था। ईसाई धर्म के विचारकों ने कहा कि प्रकृति ने सभी चीजें सभी के लिए समान रूप से बनाई हैं; ईश्वर की आज्ञा से सभी चीजें बनी हैं जिससे सभी को समान रूप से खाने को मिल सके और पूरी पृथ्वी सभी के समान अधिकार में रहे; प्रकृति ने इस प्रकार सभी के लिए समान अधिकार बनाये हैं लेकिन लालच के कारण वे कुछ लोगों के अधिकार बन गये हैं। ईसाई धर्म ने निजी सम्पत्ति के विचार की निन्दा की। ईसा मसीह लोगों में लालच और दुनिया के सुखों के पीछे पागल होने की भावना को दबाना चाहते थे। इसके स्थान पर वे लोक-कल्याण और समता के विचारों को बढ़ावा देना चाहते थे, जिससे लोग अपनी बचत को उन लोगों में बाँट सकें, जिनको उस की आवश्यकता हो। ईसा मसीह और उनके शिष्यों के प्रभाव के कारण जेरुसलम के कई लोग अपना धन निर्धनों में बाँट देते थे और इस प्रकार रहते थे, जैसे सभी एक दिल और एक प्राण हों और जैसे सभी चीजों पर सभी का अधिकार हो।

ईसाई विचारधारा स्टोइक लोगों के प्रभाव में आई। जैसा हम पहले देख चुके हैं, स्टोइक संसार की

एकता और एक विश्वव्यापी राज्य के विचार को मानते थे। ईसाई धर्म के विकास के शुरू में रोमन-साम्राज्य इस विश्वव्यापी साम्राज्य का प्रकट रूप था। इस प्रकार उस युग में ईसाई-जगत् की एकता की भावना बढ़ी। सम्पूर्ण ईसाई-जगत् के राजनीतिक जीवन की एकता रोमन-साम्राज्य के रूप में थी और धार्मिक जीवन की एकता ईसाई धर्म के संगठन के रूप में सामने आई।

रोमन-साम्राज्य के पतन के बाद भी योरप में राजनीतिक एकता और विश्वव्यापी साम्राज्य का विचार समाप्त नहीं हुआ; बल्कि अब यह विचार और भी अधिक शक्तिशाली हो गया। अतीत में रोमन-साम्राज्य का गौरव और उससे मिली शान्ति और व्यवस्था मध्यकाल में फैले भेद और अशान्ति के दिनों में लोगों की कल्पना को और भी अधिक प्रभावित करने लगीं। लोग रोमन-साम्राज्य के आदर्श को अपने समय में फिर से पाने की लालसा करते थे। मध्यकाल की राजनीतिक दशा में ऐसे साम्राज्य की स्थापना बिल्कुल असंभव जैसी थी। लेकिन रोमन

साम्राज्य का प्रभाव इतना गहरा था कि कई बार उसकी फिर से स्थापना करने का प्रयत्न किया गया। शार्लमेन

शार्लमेन

और ओट्टो नाम के शासकों ने रोमन-साम्राज्य के प्राचीन गौरवमय स्वरूप की फिर से स्थापना की कोशिश की; किन्तु इसमें सफलता पूरी नहीं मिली और जो मिली भी, वह अधिक समय तक बनी न रह सकी।

योरप में मध्यकाल में जिस विचारक ने भी अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर कुछ लिखा, उसकी लेखनी रोमन-

साम्राज्य की एकता से ही प्रभावित रही और उसने अव्यवस्था के उस युग में रोमन-साम्राज्य के उदाहरण पर विश्वव्यापी साम्राज्य की कल्पना का ही समर्थन किया। इस विचार का बहुत अच्छा रूप हमें तेरहवीं शताब्दी के अन्त में इटली के संसार-प्रसिद्ध लेखक दाँते में मिलता है, जिसकी रचना 'डिवाइन कॉमेडी' संसार की अमर रचनाओं में से है। उसने अपने एक दूसरे ग्रन्थ में सारे संसार में एक ही राज्य के विचार की ज़ोरदार पैरवी की है। उसने कहा कि पूरे स्वर्ग पर केवल एक राजा अथवा ईश्वर का अधिकार है; इससे यह नतीजा निकलता है कि मानव-जाति उसी समय सबसे अच्छी स्थिति में होगी, जब उस पर एक ही शासक या एक ही नियम की सत्ता हो। उसने रोम के पतन के बाद के दुःखों का वर्णन करके अपने तर्क को मजबूत बनाया।

इस प्रकार पूरे मध्यकाल में योरप की एकता दो संस्थाओं के रूप में जीवित रही—धर्म के क्षेत्र में ईसाई चर्च के रूप में और राजनीति के क्षेत्र में होली रोमन एम्पायर (Holy Roman Empire) के रूप में। होली रोमन एम्पायर का नाम ही उसकी सच्ची दशा से नहीं मिलता-जुलता था। यह संघटन न तो पवित्र

ही था और न रोमन ही। मुख्य रूप से यह जर्मनी के छोटे-छोटे राज्यों का एक संघ मात्र रह गया था। इसके प्रधान सम्राट् की शक्ति भी धीरे-धीरे क्षीण होती गई; उसको अपने अधीन राज्यों पर बहुत कम सच्चा अधिकार था।

ईसाई चर्च बहुत अर्थों में योरप की धार्मिक एकता का प्रतीक था। पोप धर्म के मामले में प्रधान था। वह योरप के राज्यों के शासन के मामले में भी अपने प्रभाव का उपयोग करता था। राज्यों के बीच होनेवाले झगड़ों का फैसला भी पोप मध्यस्थ के रूप में करता था। उसके इन फैसलों में बल भी होता था; झगड़नेवाले राज्य इन फैसलों को अस्वीकार करने का साहस नहीं रखते थे। इन फैसलों को मनवाने के लिए पोप अपने धार्मिक प्रभाव का भी उपयोग करता था।

उस युग में योरप की सांस्कृतिक एकता का दूसरा साधन लैटिन भाषा थी। लैटिन ही योरप में शिक्षा का माध्यम थी। साहित्य की रचना का माध्यम भी लैटिन ही थी। राज्यों के बीच और दूतों के द्वारा

भी इसी भाषा का उपयोग होता था। इसके साथ ही साथ लैटिन धर्म की भाषा तो थी ही।

धर्म का उस काल में लोगों के जीवन और उनके विचार पर गहरा प्रभाव था। धार्मिक कारणों ने योरप में एकता की भावना को बढ़ाया। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में योरप के ईसाई राज्यों ने मुस्लिम लोगों के अधिकार से अपनी पवित्र भूमि को छुड़ाने के लिए जो युद्ध शुरू किया वह 'क्रूसेड्स' के नाम से प्रसिद्ध है। यह युद्ध लगभग दो सौ वर्षों तक चलता रहा। योरप के ईसाई राज्यों में एक ही भावना से एक ही ध्येय के लिए और एक ही विरोधी की उपस्थिति के कारण एकता का भाव बढ़ा।

धर्म का प्रभाव इतना अधिक था कि उस समय योरप में जितनी भी कल्पनाएँ अथवा योजनाएँ शान्ति-स्थापना अथवा एक-राज्य की हुई, वे सभी केवल ईसाई राज्यों तक ही सीमित थीं। इन में दूसरे धर्म के माननेवाले राज्यों के लिए कोई स्थान नहीं था। १३०५ ई० में फ्रांस के पिएरे द्युब्वा (Pierre Dubois) नाम के एक विचारक ने ईसाइयों की

पवित्र भूमि को फिर से प्राप्त करने की दृष्टि से यह सुझाव रखा कि सभी ईसाई राज्य आपस में मिल कर शान्ति की स्थापना करें और आपसी झगड़ों का फ़ैसला करने के लिए मध्यस्थता की एक स्थायी अदालत स्थापित करें। ऐसी दूसरी योजना बोहेमिया राज्य के एक मन्त्री ने बनाई थी। इसका नाम 'एण्ट्वाएन मेरिनी' (Antoine Marini) था। उस की योजना को बोहीमिया के राजा ने १४६१ ई० में अपना लिया और उसके आधार पर अन्य राज्यों से एक संघ-राज्य की स्थापना के लिए सम्पर्क स्थापित किया। इस संघ-राज्य में सभी ईसाई राज्यों के सम्मिलित होने की बात थी। इस संघ-राज्य के शासन की सबसे अधिक शक्ति उसकी महासभा को दी गई, जिसमें सभी सदस्य राज्यों के दूतों को सम्मिलित करने का प्रस्ताव था। तीसरी योजना फ्राँस के मंत्री सली (Sully) की थी, जिसको हेनरी चतुर्थ ने अपनाया। यह योजना 'भव्य योजना' (Grand Design) के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें योरप का उस समय के राज्यों के स्थान पर १५ राज्यों में बाँटने का सुझाव

था । इन सभी राज्यों का एक संघ बनाने का प्रस्ताव था, जिसमें शासन का सर्वोच्च अधिकार सदस्य राज्यों द्वारा भेजे गये अधिकारियों की एक साधारण सभा को प्राप्त था । यद्यपि ये योजनाएँ कार्य में नहीं आ सकीं, फिर भी इनके महत्व को घटाया नहीं जा सकता। इनसे यह साफ मालूम होता है कि आज से बहुत पहले भी विचार करनेवाले लोग शान्ति की आवश्यकता को समझते थे और जानते थे कि सभी देशों का हित इसी में है कि वे अपनी समस्याओं को सामूहिक रूप से सुलझायें और सभी राज्यों का प्रबंध देखने के लिए किसी प्रकार के एक-राज्य अथवा संघ-राज्य की स्थापना की जाय ।

लेकिन इन सभी योजनाओं में एक दोष यह था कि वे उस समय के प्रचलित धार्मिक प्रभाव के कारण केवल ईसाई राज्यों के संघ की ही बात सोच पाती थीं। उसके आगे बढ़कर सभी राज्यों का, बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के, संघ बनाने की बात उस युग की कल्पना में संभव नहीं थी; इसलिए एमेरिक क्रुचे (Èmeric Crucé) नाम के विचारक की योजना प्रशंसा के

योग्य है। उसने १६२३ में जिस संघ की योजना बनाई, उसमें केवल ईसाई-राज्य ही नहीं बल्कि उस समय के संसार के सभी राज्यों को सम्मिलित करने का सुझाव था।

अध्याय/पाँच

अन्तर्राष्ट्रीय संघटन की ओर

वैसे तो राज्यों के बीच युद्ध और संधि-काल में उनके संबंधों के विषय में कुछ नियम, विश्वास और रिवाज बहुत पहले के समय में भी किसी-न-किसी रूप में थे, लेकिन इन बिखरे हुए रिवाजों को एक ढाँचे में ढाल कर, उन्हें संयत बना कर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को जन्म देने का काम सोलहवीं शताब्दी के अन्त की ओर और सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ की ओर हुआ। इससे पहले की कुछ शताब्दियों में भी इसी दिशा की ओर कुछ प्रगति हुई थी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून साधारण कानून से भिन्न है। यह वास्तव में उन नियमों और सिद्धान्तों का समूह है, जिनका पालन सभ्य राज्य साधारणतः अपने संबंधों में करते हैं और जिस को तोड़ने पर वे उसके लिए उत्तरदायी ठहराये जाते हैं। ये नियम इन राज्यों के व्यवहारों के कारण बदलते भी रहते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक अलग विद्या या शास्त्र के रूप में अस्तित्व नहीं था। कुछ विद्वानों ने राज्यों के परस्पर संबंधों के विषय में प्रचलित व्यवहारों को एकत्रित और संयत करने का प्रयत्न किया था। इन लोगों में प्रतिभा-सम्पन्न डच विद्वान 'ह्यूगो ग्रोटियस' का नाम सबसे अधिक मशहूर है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का जनक कहा जाता है। योरप में बहुत लम्बे समय तक जो धार्मिक युद्ध हुए, उनकी भंयकरता, बर्बरता और उनसे होनेवाले विनाश से दुखित हो कर ही उसने अपनी पुस्तक की रचना शुरू की। उसने उन सिद्धान्तों का संकलन किया, जिनके अनुसार राज्यों के परस्पर संबंध होने चाहिएँ।

योरप के इतिहास को चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के 'पुनर्जागरण' अथवा 'नवजीवन' (Renaissance) नाम के सांस्कृतिक आन्दोलन से कई दिशाओं में नई राहें मिलीं। इस का आरंभ ग्रीक साहित्य, परम्परा और संस्कृति के साथ उस युग के लोगों के निकट सम्पर्क और ज्ञान के कारण

हुआ था। फलस्वरूप मनुष्य और उसके कार्यों में अधिक रुचि और उनको अधिक महत्व देने का विचार बढ़ा। स्वाभाविक ही था कि मनुष्य और संसार के भौतिक जीवन को समझने और उसमें अभिरुचि बढ़ाने के प्रयत्न से धर्म का महत्व घटने-सा लगा। इस आन्दोलन का प्रभाव धीरे-धीरे दिखलाई पड़ा। सभी बातों को तर्क की कसौटी पर तौलने और मानव-बुद्धि को महत्व देने का बौद्धिक आन्दोलन अठारहवीं शताब्दी में बहुत अधिक प्रभावपूर्ण हो गया था। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी प्रचलित विश्वासों के स्थान पर बुद्धिवाद अपना महत्व बढ़ा रहा था। इन नये विचारों और वादों का यह फल हुआ कि योरप में एक नये बुद्धि-वादी और शिक्षित वर्ग का जन्म हुआ, जो किसी भी बात को धर्म से अलग कर के देख सकता था। इससे पहले के युग में तो सभी विचारों पर धर्म का प्रभाव किसी-न-किसी मात्रा में अवश्य रहता था। नया शिक्षित वर्ग राज्यों की झूठी सीमाओं को तोड़ कर आपस में विचार और भावनाओं की एकता महसूस करता था। इस वर्ग ने विश्व-बन्धुत्व और भाईचारे

के जिस विचार को जन्म दिया, वह धर्म के बंधन से मुक्त था।

इस काल में एक-राज्य और संघ-राज्य की कई योजनाएँ विचारकों ने प्रस्तुत कीं। पहले की तुलना में इनकी यह विशेषता थी कि अब ये संघ-राज्य केवल ईसाई राज्यों के लिए ही नहीं सोचे जाते थे। इनमें दूसरे धर्म के माननेवाले राज्यों को भी स्थान दिया जाता था। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक कान्ट (Kant) इस परिवर्तन का सबसे अच्छा उदाहरण है। वह शान्ति का समर्थक था और विश्व-बन्धुत्व को एक महत्वपूर्ण और निर्णायक सिद्धान्त मानता था। उसने जो विश्वसंघ का स्वरूप रखा, उसमें बढ़ती हुई प्रजातंत्रात्मक भावना के अनुकूल संघ के सदस्य राज्यों की कल्पना गण-राज्य के रूप में की गई है।

अठारहवीं शताब्दी में पूरे विश्व के इतिहास को एक-सूत्र में बँधी कथा के रूप में समझने का नया विचार दिखलाई पड़ता है। पहले के युगों में इस प्रकार से सोचने की संभावना नहीं थी। लोग यही समझते थे कि कोई भी राज्य या राष्ट्र अपना इतिहास स्वयं बनाता

है, उसकी प्रगति पर दूसरे राज्यों या देशों का प्रभाव अधिक महत्व नहीं रखता। फ्राँस की राज्य-क्रान्ति में कुछ समय तक लोगों ने उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप दिया, जिसमें मध्य वर्ग ने शासक और धर्म के अधिकारियों के विरुद्ध अपनी एकता को महसूस किया और समझा कि उन सब का हित राज्यों की सीमाओं से ऊपर उठ कर एक है।

फ्राँस के प्रसिद्ध विजेता नैपोलियन बोनापार्ट ने भी अपने कार्यों के द्वारा अपने अनोखे ढँग में योरप को एकता और अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़ाया। उसने बहुत समय से चले आये पुराने राज्यों को समाप्त करके उनको अपने राज्य में मिला लिया। उसने इन राज्यों को फिर से नये सूबों में बाँटा। इन सभी राज्यों में उसने अपने शासन-सुधारों के द्वारा भी एक जैसी व्यवस्था बना कर पुराने राज्यों के भेद के स्थान पर एकता स्थापित की।

नैपोलियन ने मनमाने तरीके से जिस प्रकार विजित लोगों पर अधिकार किया, उससे लोगों का विरोध बढ़ा और उस की पराजय के बाद उसके
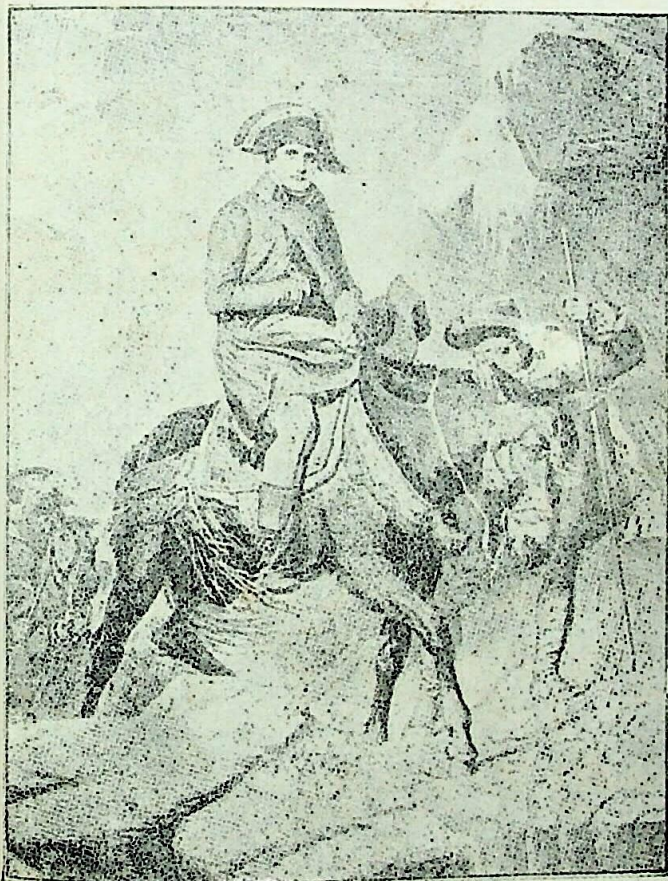
नैपोलियन 'आल्प्स' को पार करते हुए ।
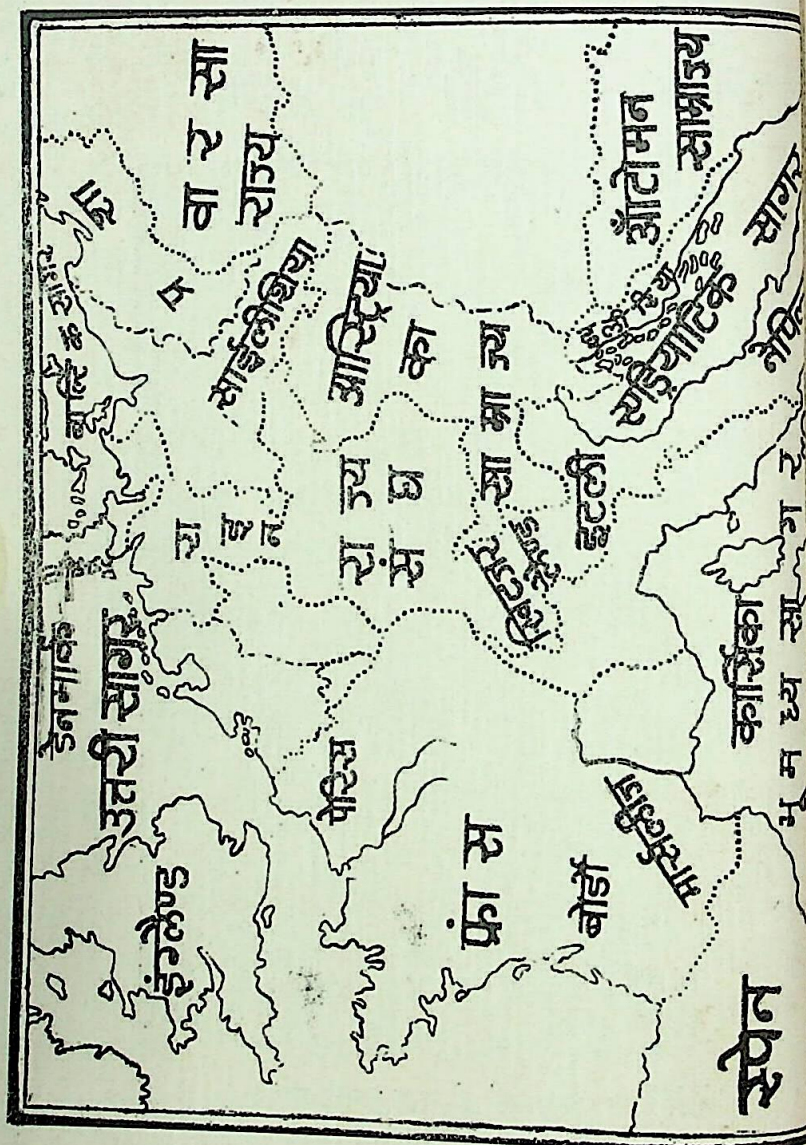
नेपोलियन के द्वारा योरप के राज्यों का पुनसङ्गठन ।

कार्य को उसके विरोधियों ने मिटाने का पूरा प्रयत्न किया। नैपोलियन के योरप भर में फैले हुए युद्धों से डर कर फिर से ऐसे युद्धों के होने की संभावना को रोकने के लिये रूस के जार अलेक्जेण्डर प्रथम के उद्योग से योरप के प्रमुख राज्यों ने एक 'पवित्र-सन्धि' (Holy Alliance) की। यह योरप के कुछ राज्यों का एक प्रकार का संघ था, जो अपने ऊपर नैपोलियन की पराजय के बाद योरप में की गई व्यवस्था को भंग नहीं होने देना चाहते थे। ये योरप की शान्ति बनाये रखना चाहते थे और इसके लिए ये क्रान्ति को दबाकर राजाओं का अधिकार बनाये रखना चाहते थे। चूँकि पवित्र-सन्धि से संबंधित ये राज्य प्रजातंत्रवाद और प्रगतिशील भावना के विरुद्ध थे, इसलिये प्रायः उनके कार्यों का महत्व उनके दोषों के कारण छिप जाता है। फिर भी उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय संघटन की दिशा में कुछ कार्य अवश्य किया है। वे यह समझते थे कि संसार के किसी भी कोने में होनेवाली कोई भी अशान्ति, वह कितनी भी छोटी क्यों न मालूम पड़ती हो, संसार के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण हो सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये राज्य संसार

की एकता की बात को भली प्रकार समझते थे। इन्होंने कुछ राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने में भी सफलता प्राप्त की थी। साथ-ही-साथ हमें यह भी मानना पड़ेगा कि पवित्र-सन्धि में सम्मिलित व्यक्ति पूर्ण रूप से प्रतिक्रियावादी नहीं थे। उस समय योरप के सभ्य जगत् में होनेवाले दासों के व्यापार को रोकने का श्रेय इन्हें ही है। लेकिन इन राज्यों ने जो सत्तारूढ़ राजाओं को बनाये रखने के प्रयत्न को ही सबसे महत्व का कार्य समझा, उससे अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे और सहयोग के विचार को आगे बढ़ने का मौका कुछ समय के लिए न मिल सका।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में और प्रथम विश्व-महायुद्ध से पहले योरप में योरोपीय राज्यों का एक ढीला-ढाला संगठन था, जो योरप के गुट (Concert of Europe) के नाम से प्रसिद्ध है। इस का कोई स्थायी संगठन नहीं था। न तो इस का कोई निश्चित संविधान था और न ही इसके स्पष्ट सिद्धान्त थे। इसके पीछे जनमत का समर्थन भी नहीं था और न कोई व्यक्ति विशेष इसकी सफलता के लिए अपनी

सारी शक्ति लगा कर काम ही करता था। जैसे-जैसे परिस्थितियाँ या जटिल प्रश्न उपस्थित होते थे, वैसे-वैसे यह गुट कार्य करता था। इसमें सम्मिलित सम्राट् आवश्यकता होने पर एकत्रित हो कर विचार भी करते थे और कभी-कभी राजदूतों के द्वारा ही एक-दूसरे की राय जान लेते थे। यह विशेष रूप से योरप के पूर्व में स्थित आँटोमन तुर्क-साम्राज्य की समस्या की ओर ध्यान देता था। उस समय यह साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था। इसके कारण जो समस्याएँ उठ रही थीं, उनसे योरप की शान्ति भंग होने की आशंका थी। इस गुट का लक्ष्य इस साम्राज्य की स्थिति को बनाये रखना था। इस का विचार था कि यदि तत्कालीन स्थिति में कोई परिवर्तन हुआ तो एक महायुद्ध को नहीं रोका जा सकेगा; इसीलिए कभी कुछ सुधार करके और कभी आन्दोलनों को दबा कर यह शान्ति स्थापित करता था। इन राजाओं को लोक-मर्यादा का भी कुछ डर था; इसीलिये ये बुरे, प्रतिक्रियावादी और निम्न प्रकार के कामों को करने से डरते थे। इन्होंने कुछ उल्लेखनीय कार्य भी किये, जैसे डैन्यूब नदी में आने-जाने

का अधिकार सभी राज्यों के लिए खोल दिया गया और मैसीडोनिया में एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक दल स्थापित किया गया। इस गुट में कई ऐसी बातें थीं कि यह एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बन सकता था, किन्तु कुछ दोषों के कारण यह पनप नहीं सका। इसके पास ऐसा कोई उपाय नहीं था, जिससे बड़े राज्यों को मनमानी करने से यह रोक सके। बड़े राज्य जो स्वयं उचित समझते थे वही करते थे। लेकिन इससे भी बड़ा दोष यह था कि इसमें सम्मिलित राज्य इस की सफलता के लिये सच्चे रूप से प्रयत्न नहीं करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव और सहयोग के मार्ग से शान्ति-स्थापना के लिये प्रयत्न करते हुए भी वे दूसरी ओर अस्त्र-शस्त्र बनाने में पागल थे। उनकी इस भूल के कारण ही प्रथम विश्व-महायुद्ध हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी का महत्व हमारी दृष्टि से यह है कि जहाँ पहले योरप के राज्य योरप की समस्याओं तक ही अपने को सीमित समझते थे और उसी के अनुसार योजनाएँ बनाते थे, अब वे पूरे संसार का ध्यान करके विचार करते थे। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप

योरप का आर्थिक ढाँचा बिल्कुल बदल गया। व्यापार और उद्योग में इतनी बढ़ती हुई कि योरपीय सभ्यता योरप तक ही सीमित नहीं रही बल्कि पाँचो महाद्वीपों में फैल गई। योरप के राज्यों को अपने उद्योगों के लिये कच्चे माल की ज़रूरत थी और साथ ही ऐसे देशों की जहाँ पर उनके माल की खपत हो सके। इस प्रकार साम्राज्यवाद की नीति योरप के सभी राज्यों की विदेशी नीति का मुख्य अंग बन गई। योरप के बाहर अपना राज्य और अधिकार फैलाने के लिये इन राज्यों में होड़ मच गई। शीघ्र ही संसार के दूर-दूर के कोनों में योरप के राज्य अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिये लड़ने लगे। इस प्रकार योरप की राज-नीति पूरे संसार की राजनीति बन गई। इसका परि-णाम यह हुआ कि जहाँ पहले योरप के राज्य केवल योरप में शान्ति स्थापना और योरप के लिये एक-राज्य या राज्यों के संगठन की बात सोचते थे, अब वे अपनी कल्पना और अपने विचार में संसार के सभी देशों और हिस्सों का ख्याल करने लगे।

उन्नीसवीं शताब्दी में दूसरा उल्लेखनीय परिवर्तन यह था कि अब लोग यह समझने लगे कि राज्यों के परस्पर

संबंधों के विषय में कई प्रकार से नये नियम बनाये जा सकते हैं और पुराने नियमों में परिवर्तन किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाना साधारण कानून बनाने से भिन्न है। यद्यपि आज भी कोई ऐसी संस्था नहीं है, जो सभी देशों के लिये उस प्रकार कानून बनाये, जिस प्रकार किसी देश या प्रान्त के लिये उसका प्रमुख शासक या विधान-सभा बनाती है; फिर भी हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी से राज्यों ने आपसी संबंधों पर ऐसी संधियाँ कीं, जिन्हें कि दूसरे राज्यों ने भी स्वीकार किया। हम कह सकते हैं कि इस दिशा में पहला कदम १८१५ ई० में वियना की कांग्रेस में लिया गया था। यद्यपि इस कांग्रेस को लोगों ने किसी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बनाने के लिये नहीं किया था; फिर भी इस कांग्रेस ने उनको जो अवसर दिया, उसका उन्होंने पूरा उपयोग किया। ये नियम मूल रूप से तो उन्हीं राज्यों पर लागू होते थे, जोकि उसको मानने की संधि या इकरार करते थे; लेकिन चूँकि ये राज्य बहुत अधिक शक्तिशाली थे इसलिये इनके द्वारा स्वीकार किये गये नियम दूसरे देशों के लिये भी लागू होने लगे। उदाहरण के लिये राजदूतों का वर्गीकरण इसी समय

में हुआ, जो थोड़े परिवर्तनों के साथ आज भी माना जाता है। इसी प्रकार योरप की अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में सभी देशों के व्यापारियों को यात्रा की स्वतंत्रता का नियम इसी समय निर्धारित हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य की ओर विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों की सभायें अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर नियम बनाने के लिये बुलाई जाने लगीं। आने-जाने के साधनों में सुधार और प्रगति के फलस्वरूप दुनिया के विभिन्न देशों के व्यक्ति आपस में मिलने लगे, जिससे यह आवश्यक हुआ कि सभी के हित के या सभी से संबंधित ऐसे विषयों पर, जिन पर कोई नियम पहले नहीं थे, अब नियम बनाये जाएँ। धीरे-धीरे ऐसी सभाओं की संख्या बढ़ने लगी और साथ-ही-साथ इनमें भाग लेनेवाले देशों की संख्या में भी वृद्धि हुई। ऐसे विषयों पर, जिनमें किसी विशेष देश को अधिक रुचि है, सभायें उसी देशके व्यक्तियोंके प्रयत्नोंसे होती थीं; लेकिन कुछ विषयोंमें कई राज्य समान रूपसे रुचि रखते थे, इसलिये वे सभी उसकी सभाओंके लिये प्रयत्न करते थे। कभी-कभी यह भी अनुभव किया जाता

था कि किसी विषय पर होनेवाली दो सभाओं के बीच के समय के लिये प्रबंध करने के लिये कोई संगठन होना चाहिये । 'अन्तर्राष्ट्रीय पोस्टल' यूनियन ऐसे संगठन का उदाहरण है ।

अध्याय/छः

बीसवीं सदी में अन्तर्राष्ट्रीय संघटन

मानव-इतिहास का चक्र जितने वेग से बीसवीं सदी में घूमा है उतना पहले कभी नहीं हुआ। उसकी गति का वेग बढ़ता ही जा रहा है। इतने समय में ही पूरे मानव-समाज के भाग्य को लोग अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ समझने लगे हैं। लोगों में भाईचारे की भावना बढ़ रही है। संसार के एक कोने में रहने वाला व्यक्ति दूसरे कोने में रहनेवाले व्यक्ति के दुःखों को महसूस कर उसकी सहायता का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जीवन और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय प्रबंध और संघटन का महत्व और उसके कार्य भी फैलते जा रहे हैं।

१९१४ ई० में योरप के गुट्ट की असफलता और उसके प्रयत्नों के बावजूद भी भयंकर प्रथम विश्व-महायुद्ध के छिड़ने पर दुनिया की आँखें खुल गईं। लोग यह समझने लगे कि यद्यपि कुछ समस्याओं के

लिये उसी समय उसी बात के लिये विशेष सभा बैठाने से कुछ समय के लिये शान्ति स्थापित हो सकती है, आवश्यकता इस बात की है कि कोई एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हो, जो ऐसी समस्याओं के उत्पन्न होने की संभावना को ही रोके और यदि वे उत्पन्न हो ही जायें तो उन्हें ठीक प्रकार से सुलझाये। जब कोई झगड़ा उत्पन्न होता है, तो प्रायः भावों की उग्रता के कारण लड़नेवाले पक्षों के लिये उस पर ठंडे दिल से सोचना और उसका हल ढूँढ़ना कठिन हो जाता है। इसीलिये स्थायी संगठन की आवश्यकता बढ़ जाती है। इसके साथ ही साथ लोगों ने यह भी समझा कि अब जब कि संसार के किसी भी कोने में होनेवाली कोई भी गड़बड़ी पूरे संसार में हलचल फैला सकती है, प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन केवल योरप के ही राज्यों के लिये नहीं होना चाहिए, बल्कि उसमें संसार के सभी राज्यों को सम्मिलित होना चाहिए।

लोगों के दिलों में शान्ति की लालसा तीव्र हो रही थी। हेग में १८९९ और १९०७ में जो शान्ति सम्मेलन हुए, उससे इस विचार को बल मिला।

विश्व-युद्ध के उदाहरण से लोगों ने सोचा कि यदि एक दीर्घकालीन युद्ध के समय मित्र-राष्ट्र अपनी शक्ति एकत्रित कर सकते हैं तो शान्ति के समय में भी वे अपनी शक्ति संगठित कर के अपनी समस्याओं का हल ढूँढ़ सकते हैं। लोगों का यह विश्वास बन गया कि यदि १९१४ में ऐसा कोई स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होता, तो प्रथम विश्व-महायुद्ध न हो पाता। शान्ति-स्थापना के लिये केवल यही आवश्यक नहीं है कि एक राज्य अपने पड़ोसी राज्य के साथ मित्रता के संबंध रखे। इससे भी अधिक ज़रूरी है कि यदि कोई राज्य किसी दूसरे राज्य पर आक्रमण करे या उसे परेशान करे, तो संसार के दूसरे राज्य अपनी संगठित शक्ति के द्वारा उसे रोक सकें।

प्रथम विश्व-महायुद्ध की समाप्ति पर राष्ट्र-संघ (League of Nations) की स्थापना १९२० ई० में हुई थी। इसकी स्थापना में अमेरिकी राष्ट्रपति विलसन का बहुत अधिक हाथ था। उसने १९१८ ई० की जनवरी में जो शान्ति की प्रसिद्ध योजना बनाई, उसमें चौदह सुझाव थे। इसमें अन्तिम सुझाव था —एक राष्ट्र-संघ की स्थापना करना, जिसका उद्देश्य

राजनीतिक स्वतंत्रता और राज्यों की अखण्डता बनाये रखना हो। इसमें इस राष्ट्र-संघ के उद्देश्यों की इस प्रकार व्याख्या की गई :—

(१) विश्व के सभी राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए प्रोत्साहित करना, जिससे युद्ध फिर न हों।

(२) शान्ति की स्थापना के लिए सभी राष्ट्रों को निरस्त्रीकरण के लिये तैयार करना।

(३) राष्ट्रों के झगड़ों का शान्तिपूर्ण ढँग से निर्णय करना।

(४) यह प्रयत्न करना कि सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विधान का पालन करें और आपस में की गई सन्धियों पर अमल करें।

शुरू में राष्ट्रसंघ की सदस्यता केवल मित्रराष्ट्रों और उन तटस्थ राज्यों के लिए थी, जिन्होंने वार्सा की संधि पर हस्ताक्षर किये थे। अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन ने ही राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए सबसे अधिक प्रयत्न किया था लेकिन अमेरिका स्वयं राष्ट्रसंघ का सदस्य न बना। विलसन के विरोधी, जिनका अमेरिका की सीनेट में बहुमत था, अमेरिका को बाहर

के झगड़ों में नहीं डालना चाहते थे। यदि राष्ट्रसंघ के दो-तिहाई सदस्य पक्ष में हों, तो कोई नया राज्य संघ का सदस्य बन सकता था।

राष्ट्रसंघ के कार्य को चलाने के लिए निम्नलिखित संस्थाएँ थीं :—

[१] व्यवस्थापिका-सभा (Assembly)—यह उन सभी विषयों पर विचार कर सकती थी, जो राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों में होते थे। राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य राज्य इसके सदस्य होते थे। किसी भी विषय पर मतदान में प्रत्येक राष्ट्र का एक ही मत गिना जाता था; यद्यपि वह सभा में तीन प्रतिनिधि तक भेज सकता था। सभा का प्रति वर्ष एक अधिवेशन होना आवश्यक था। कोई भी सदस्य सदस्यों का बहुमत प्राप्त करके इस का अधिवेशन बुला सकता था। सभा के निर्णय सर्वसम्मति से होने चाहिए। इस प्रकार एक भी सदस्य के विरोध पर कोई भी प्रस्ताव अस्वीकृत हो सकता था।

[२] परिषद् (Council)—परिषद् भी राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के अन्तर्गत सभी विषयों पर विचार कर सकती थी। लेकिन परिषद् का कार्य क्रियात्मक

था। व्यवस्थापिका-सभा का मुख्य कार्य प्रस्ताव पास करना था। परिषद् राष्ट्र-संघ की कार्यपालिका (Executive) थी। परिषद् में दो प्रकार के सदस्य होते थे। आरम्भ में इसमें चार स्थायी सदस्य थे—इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान। बाद में जर्मनी भी इस का स्थायी सदस्य बना दिया गया था। इसके अतिरिक्त ९ अस्थायी सदस्य होते थे, जिनमें से तीन को प्रति वर्ष व्यवस्थापिका-सभा निर्वाचित करती थी। १९३६ में अस्थायी सदस्यों की संख्या ग्यारह हो गई थी। प्रतिवर्ष परिषद् की चार बैठकें होती थीं, किन्तु परिषद् का कोई सदस्य अथवा राष्ट्रसंघ के कोई तीन सदस्य और अधिक बैठकों के लिए कह सकते थे। परिषद् के निर्णय भी सर्व-सम्मति से पास होने चाहिए थे।

[३] सचिवालय (Secretariat)—राष्ट्र-संघ इससे पहले के अन्तर्राष्ट्रीय संघटनों से इस बात में भी भिन्न था कि पहली बार इसमें एक स्थायी सचिवालय का प्रबन्ध किया गया, जो जिनेवा में स्थित था। इसका प्रमुख एक महामन्त्री होता था, जो अनेक सहायक मन्त्रियों और विभिन्न विभागों के लगभग पाँच सौ कर्म-

चारियों की सहायता से काम करता था। इस का मुख्य कार्य संघ की कार्यवाही को लेखबद्ध करना, पत्र-व्यवहार करना और संघ के लिए आवश्यक सूचनाएँ एकत्रित करना था। इसमें आर्थिक, व्यावसायिक, यातायात, निरस्त्रीकरण, स्वास्थ्य, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और राजनीतिक आदि बारह विभाग थे।

[४] स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice)—१६२० में हॉलैण्ड के हेग (Hague) नाम के नगर में अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण ढँग से फैसला करने के लिए एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई। यह केवल उन्हीं झगड़ों पर फैसला देता था, जो दोनों पक्षों के द्वारा स्वेच्छा से उसके सामने लाये जाते थे। उसका फैसला अन्तिम होता था। व्यवस्थापिका और परिषद् भी कुछ विषयों पर राय लेने के लिए, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पास भेज सकते थे। इसके अतिरिक्त यह न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और नियमों की व्याख्या करता था और किसी राज्य के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का उल्लंघन

होने पर क्षतिपूर्ति निर्धारित करता था। इसमें प्रारम्भ में ग्यारह न्यायाधीश और चार सहायक न्यायाधीश नियुक्त हुए; किन्तु बाद में कार्य की अधिकता के कारण न्यायाधीशों की संख्या पन्द्रह कर दी गई।

[५] अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (International Labour Organization)—इस का उद्देश्य संसार के सभी देशों के श्रमिकों की दशा सुधारना और उनके लिए उचित शर्तों और नियमों की व्यवस्था करना था। इसके तीन मुख्य विभाग थे—साधारण श्रमिक सभा, शासन-परिषद् और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय। कार्यालय श्रम-संबंधी सूचनाएँ एकत्रित करके उन्हें छपवाता था और यह देखता था कि सभी राज्य श्रम-संबंधी नियमों और संधियों को मानते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ ने संसार के श्रमिकों के हित के अनेक कार्य किये और उन्हें कई सुविधाएँ दिलवाईं, जैसे—कारखानों में १४ वर्ष से छोटी उम्र के बालकों को काम में न लगाया जाय, किसी भी श्रमिक से एक दिन में आठ घंटे से अधिक काम न लिया जाय, कोई भी श्रमिक सप्ताह भर में ४८ घंटे से अधिक काम

न करे और जो स्त्रियाँ कारखानों में काम करें, उन्हें प्रसूति और दूसरे जरूरी मौकों पर छुट्टियाँ वेतन के सहित मिलें।

राष्ट्र-संघ की स्थापना पर बहुत से लोग यह सोच कर प्रसन्न हुए कि यह राज्यों से ऊपर एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय राज्य अथवा शासन है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि राष्ट्र-संघ विश्व के इतिहास में पहला सच्चे अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था; किन्तु इसकी स्थापना के द्वारा सदस्य राज्यों के अधिकार या उनकी शक्ति किसी प्रकार सीमित नहीं हुई। उन्होंने केवल अपने-आप अपने ऊपर कुछ प्रतिबंध लगाये, लेकिन अपना कोई भी अधिकार या कार्य-क्षेत्र उन्होंने राष्ट्रसंघ को नहीं सौंपा। राष्ट्रसंघ की व्यवस्थापिका अथवा परिषद् बिना सभी सदस्यों की पूर्ण सहमति के न तो कोई नियम ही बना सकती थी और न कोई निर्णय ही कर सकती थी। राष्ट्र-संघ के पास उसके निर्णय के विरुद्ध जानेवाले राज्यों के खिलाफ कार्यवाही करने का उचित प्रभावपूर्ण उपाय नहीं था। वह मज़बूत सदस्यों की सहायता और उदारता पर आश्रित

था। अपनी निजी सेना के अभाव में राष्ट्र-संघ अपने निर्णयों को विद्रोही राज्यों से मनवाने में असमर्थ था। अमेरिका के राष्ट्रसंघ में सम्मिलित न होने से राष्ट्र-संघ की शक्ति क्षीण हो गई और वह दूसरे देशों पर प्रभाव डालने में बहुत ही अशक्त हो गया। इसी प्रकार रूस को राष्ट्रसंघ की सदस्यता न दे कर योरप के देशों ने भारी भूल की। राष्ट्रसंघ उद्धत और बढ़ती हुई शक्तिवाले राज्यों के अन्यायों को रोक सकने में बिल्कुल असमर्थ था। इटली, जापान और जर्मनी ने राष्ट्रसंघ की परवाह किये बिना मनमाने तरीके से अन्य देशों पर लड़ाई द्वारा विजय की। राष्ट्र-संघ इन के विरुद्ध कुछ न कर सका, जिससे उसके प्रभाव और मर्यादा को चोट पहुँची।

लेकिन इन आलोचनाओं के बीच हमें राष्ट्रसंघ के महत्व को न भूलना चाहिए। यद्यपि इसमें दोष थे फिर भी इसने लोगों के दिल में यह भाव बढ़ाया कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विश्व के सभी देशों के लिए हितकारी है और आवश्यकता यह है कि उसके दोषों को दूर कर उचित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाया जाय। उसके कार्यों से सदस्यों के अधिकार पर भी कुछ-न-

कुछ बंधन अवश्य लगे। जब राष्ट्रसंघ ने किसी भी राज्य के विरुद्ध कार्यवाही करने का निश्चय किया, तो कोई सदस्य राज्य उसके परिणाम से अछूता नहीं रह सकता था। फिर जिन राज्यों का मामला विचाराधीन होता था, उन्हें मत देने का अधिकार नहीं रहता था, जिससे वे निर्णय सर्वसम्मति से पास होने चाहिएँ, इस आधार पर राष्ट्रसंघ के कार्यों में बाधा न डाल सकें। फिर राष्ट्रसंघ ने कई अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सफलतापूर्वक सुलझाया भी था, जैसे बाल्टिक में स्थित एक द्वीप के बारे में स्वीडेन और फिनलैण्ड का झगड़ा, ऊपरी साइलेशिया के बारे में पोलैण्ड और जर्मनी का मतभेद, यूनान और बल्गेरिया के बीच सीमा-संबंधी झगड़ा और पीरू और कोलम्बिया के बीच झगड़ा। राष्ट्रसंघ को सामाजिक कल्याण और लोकहितकारी कार्यों में भी सफलता मिली। श्रमिकों के लिए राष्ट्रसंघ की सेवाओं का हम उल्लेख कर चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, रोगों की रोक-थाम, स्वास्थ्य की उन्नति, स्त्रियों का व्यापार और अल्पसंख्यक जातियों के हितों की रक्षा के क्षेत्र में राष्ट्र-संघ की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं।

जापान, जर्मनी और इटली की तानाशाही सरकारों के मनमाने कामों से राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा और उस की कमज़ोरी सभी महसूस करने लगे। जब १९३५ में इटली ने अबीसीनिया को विजय कर लिया और राष्ट्रसंघ उस का कुछ न बिगाड़ सका, तो लोग समझ गये कि राष्ट्रसंघ के कार्य कहाँ तक असफल और प्रभावहीन हो सकते हैं। विश्व-महायुद्ध के छिड़ जाने पर राष्ट्रसंघ का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के राजनीतिक जीवन में इतिहास पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है; लेकिन वैधानिक रूप से राष्ट्र-संघ का अन्त तब हुआ, जब द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त-राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई।

संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations Organisation) अथवा U. N. O. की स्थापना द्वितीय विश्व-महायुद्ध की समाप्ति के कुछ समय बाद हुई। ऐसे शान्ति स्थापना और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के प्रयत्न को एक स्थायी संस्था का रूप देने का प्रयास कुछ वर्षों पहले से ही चल रहा था। १४ अगस्त, १९४१ ई० को अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ब्रिटेन के प्रधान मंत्री चर्चिल समुद्र के बीच एक

संयुक्त राष्ट्र संघ
अन्तर्राष्ट्रीय न्याय कोर्ट
सुरक्षा परिषद
साधारण सभा
आर्थिक व सामाजिक परिषद
मंत्रालय
धरोहर परिषद
अन्तर्राष्ट्रीय बच्चों का संकटकालीन कोष
प्रादेशिक सुरक्षा प्रबन्ध व एजेन्सीज
राष्ट्रीय सशस्त्र सैन्यदल
सैन्य विभागीय कार्यकर्ता सभा
रसायनिक शस्त्रधारी सेना का आयोग
अणु शक्ति आयोग
आयोग
विशिष्ट एजेन्सीज
ILO अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन
FAO खाद्य एवं कृषि संगठन
BANK
FUND अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा पूंजी
ITO अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन
ITU
UPU विश्व डाक एक्य
ICAO अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात संगठन
IMCO
UNESCO
WHO विश्व स्वास्थ्य संगठन
IRO
आर्थिक व रोजगारी
आँकड़े संबंधी
यातायात व संचार
मानव हित
स्त्रियों की स्थिति
सामाजिक
जन संख्या
नशीली औषधियां
....अभीतक पूर्णतया संगठित नहीं
परोक्ष सम्बन्ध

जहाज पर नाटकीय ढँग से मिले और उन्होंने अटलाण्टिक अधिकार-पत्र (Atlantic Charter) बनाया, जिसमें उन्होंने उन उद्देश्यों को लेखबद्ध किया था जिस पर उन्होंने संसार के लिए सुखतर भविष्य की आशा की। इसमें आठ सिद्धान्त थे, जिसके अनुसार युद्ध की समाप्ति के बाद शान्ति की व्यवस्था करने का निश्चय हुआ। रूस के शासन के प्रमुख स्टालिन ने भी इस अधिकार-पत्र के विरुद्ध कुछ नहीं कहा। इन सिद्धान्तों को २६ राज्यों ने स्वीकार कर लिया और उनके प्रतिनिधियों ने १९४२ में संयुक्त राष्ट्रों के एक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये। बाद में चीन के च्याङ्ग-काइ-शेक और रूस के स्टालिन ने भी रूज़वेल्ट और चर्चिल के साथ शान्ति की व्यवस्था के संबंध में परामर्श किया। जैसे-जैसे मित्रराष्ट्रों की विजय की संभावना बढ़ती गई, वैसे-वैसे लोगोंको यह आवश्यकता महसूस होने लगी कि शान्ति कायम रखने के लिए एक व्यापक संस्था की स्थापना होनी चाहिए। अमेरिका का भी जनमत राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को ऐसी व्यवस्था के लिये प्रयत्न करने को प्रेरित कर रहा था। इस प्रकार विश्व-महायुद्ध की समाप्ति से पहले ही राष्ट्र-

हमारी बिरादरी--

चर्चिल रूजवेल्ट स्टालिन

संघ, जोकि असफल रहा था, के स्थान पर एक नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने की आवश्यकता पर सभी राज्यों में एक ही राय थी। १६४३ के नवम्बर में मास्को में अमेरिका, ब्रिटेन रूस और चीन के विदेश-मंत्रियों की एक सभा हुई, जिसमें बिना अधिक विलम्ब के सभी छोटे और बड़े शान्तिप्रिय राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने की आवश्यकता स्वीकार की गई और उसके लिए उचित आधार का भी निर्णय किया गया। उसी वर्ष दिसम्बर में तेहरान में रूज़वेल्ट, चर्चिल औ स्टालिन ने भी यह स्वीकार किया कि प्रजातंत्रवादं। राज्यों के विश्व-परिवार की स्थापना होनी चाहिए। १६४४ में वाशिङ्गटन में डुम्बर्टन ओक्स (Dumbarton Oakes) सम्मेलन में ब्रिटेन, रूस, अमेरिका और चीन के प्रतिनिधियों ने एक स्थायी संयुक्त-राष्ट्र-संघ के स्वरूप के विषय में प्रस्ताव बनाये। सानफ्रांसिस्को में १६४५ में पचास राज्यों के प्रतिनिधियों ने इन प्रस्तावों के आधार पर संयुक्त-राष्ट्र के घोषणा-पत्र को बनाया। इन राज्यों के शासन ने इस घोषणा-पत्र को स्वीकार किया और इस प्रकार २४ अक्टूबर, १६४५ को संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई।

संयुक्त-राष्ट्र-संघ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और भाई-चारे के लिए जो प्रशंसनीय कार्य कर रहा है, उससे आज के आदमी भली-भाँति परिचित हैं। हम इस की कार्य-प्रणाली और संगठन के विषय में अपनी दूसरी पुस्तक 'हम सब एक हैं' में उल्लेख कर रहे हैं। पुनरावृत्ति न हो, इसलिए हम इन बातों को यहाँ नहीं कहेंगे।

संयुक्त-राष्ट्र-संघ के मुख्य उद्देश्य हैं—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना, समान अधिकार और आत्मनिर्णय के आधार पर राज्यों में मित्रता के संबंधों को बढ़ाना, विश्वव्यापी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं को सुलझाने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ाना और मानव के अधिकारों, गौरव और स्वतंत्रता के लिए आदर की भावना में वृद्धि करना।

संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना करने वालों ने राष्ट्र-संघ के दोषों का विचार कर उन्हें संयुक्त-राष्ट्र-संघ में आने से रोकने का प्रयत्न किया है। इसका संविधान राष्ट्र-संघ के संविधान से कई मामलों में

हमारी बिरादरी--
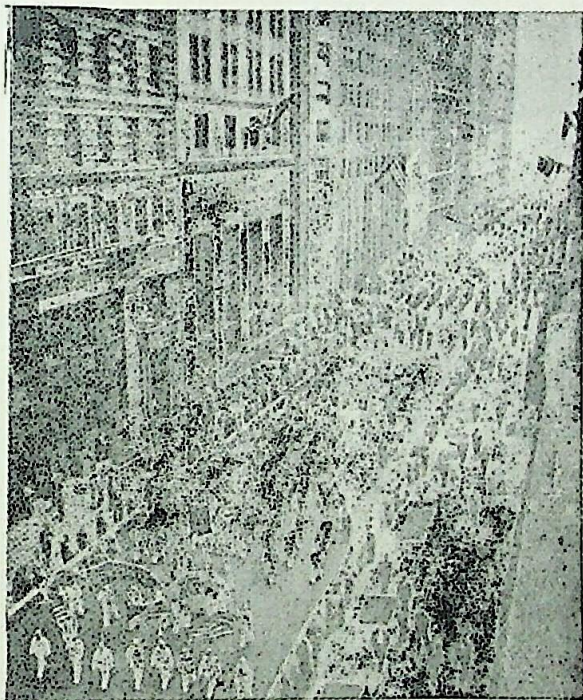
संयुक्त-राष्ट्र-संघ दिवस पर जनता में उत्साह !

सुधरा हुआ है। इसकी धारायें राष्ट्र-संघ की धाराओं की तुलना में अधिक स्पष्ट हैं। इसके कार्यों का क्षेत्र भी अधिक व्यापक है। इसी प्रकार इसमें राष्ट्र-संघ की तुलना में अधिक सदस्य हैं। संयुक्त-राष्ट्र-संघ में दूसरा गुण, जो कि राष्ट्र-संघ में नहीं था, यह है कि शान्ति भंग करनेवालों को रोकने के लिए यह सैनिक शक्ति का उपयोग कर सकता है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ अपने सदस्यों को आपसी झगड़ों के सुलझाने में शान्तिपूर्ण उपायों का उपयोग करने के लिए अधिक प्रभावपूर्ण ढँग से कह सकता है। अनेक बाधाओं के होते हुए भी संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने कई पेचीदा राजनीतिक झगड़ों को सुलझाया है। शान्ति के क्षेत्र में भी उसने मानव-मानव को समीप लाने और उनके सुखों और अधिकारों में वृद्धि करने में बहुत अधिक सफलता प्राप्त की है। आज सभी लोगों की आशाएँ इसी में केन्द्रित हैं। हम सब मानते हैं कि संसार के सुखमय और शान्तिपूर्ण भविष्य की बात संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सफलता पर ही निर्भर है। जितने ही शक्तिशाली उसके हाथ हो पायेंगे, उतना ही संसार विपत्ति और नाश के रास्ते पर जाने से बचा रहेगा। ❖❖❖

अध्याय/सात

प्राचीन धर्मों में विश्व बन्धुत्व के विचार

आज संसार में जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का महत्व बढ़ रहा है या लोग जो एक-राज्य के विचार में अधिकाधिक विश्वास करते हैं, वह प्रधान रूप से योरप की सभ्यता और उसके इतिहास का प्रभाव है। किन्तु अब यह विचार सभी देशों में लोग मानते हैं और यह अब पूरे संसार की सम्पत्ति है।

एशिया के देशों ने प्राचीन काल में एक-राज्य अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के दृष्टिकोण से कोई उल्लेखनीय विचार नहीं उपस्थित किया। इस विषय की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं गया था। उनका ध्यान मानव-मानव के बीच प्रेम, सद्भावना और परस्पर सहायता और कल्याण की ओर अधिक आकर्षित था। इन धर्मों के इन विचारों का प्रभाव आज भी संसार की बहुत बड़ी जन-संख्या पर है। इनसे आज की दुनिया में भाईचारे और प्रेम के आदर्श तथा उसके

अनुसार होनेवाले अनेक कार्यों को बल मिला है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ सभी धर्मों और विचार-पद्धतियों का उल्लेख नहीं कर सकते।

सबसे पहले हम उदाहरण के लिए ईरान के प्रसिद्ध विचारक और धर्म-सुधारक ज़रथुस्त्र का उल्लेख करेंगे। इन्होंने ईरान के प्रचलित धर्म के स्थान पर नैतिकता को महत्व दिया। इनके अनुसार जीवन का सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ नियम शत्रु को मित्र बनाना, दुष्ट को सदाचारी बनाना और अज्ञानी को शिक्षित करना है। आदमी को सच्चा और धार्मिक होने के साथ ही दयालु भी होना चाहिए। उसी का स्वभाव अच्छा समझा जायगा, जो किसी भी दूसरे के साथ ऐसा कार्य नहीं करेगा जो स्वयं उसके लिए अच्छा न हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज़रथुस्त्र ने यद्यपि नैतिक जीवन को महत्व देने के कारण अन्य विषयों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, फिर भी उन्होंने आदमी-आदमी में प्रेम की भावना बढ़ाने के विचार को बढ़ावा दिया।

पूर्व के देशों में प्र चलित धर्मों में इस्लाम में धार्मिक और विश्वव्यापी राज्य के विचार को महत्व दिया

गया है। इस्लाम में अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे और सद्भाव को बढ़ानेवाले कुछ विचार मिलते हैं। इस्लाम
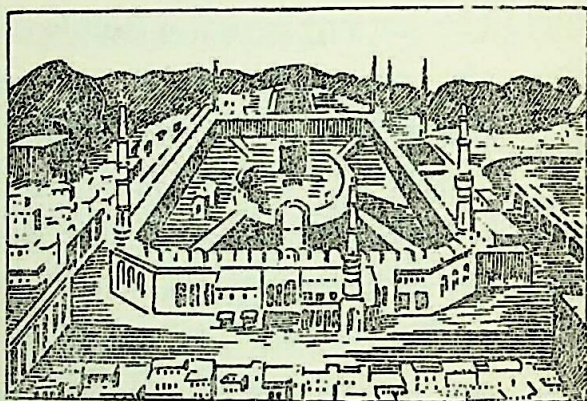
इस्लाम के पवित्र नगर मदीना का एक दृश्य

में भी यह सिद्धान्त है कि सभी धर्म उसी शाश्वत सत्य अथवा विश्वास को बतलाते हैं, जिसे अल्लाह मनुष्यों को सच्चे मार्ग पर चलाने के लिए प्रगट करता है। इसीलिए जितने भी पैगम्बर या धर्म के प्रवर्तक हैं वे सभी समान रूप से आदर के पात्र हैं, वे सभी अल्लाह के ही सन्देश को आदमियों तक पहुँचाते हैं।

इस्लाम की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता जो अन्य धर्मों की तुलना में इस्लाम में अधिक प्रभाव के साथ

कही गई है, वह है मानव-समता की बात। अल्लाह के सम्मुख सभी आदमी बराबर हैं। लिंग, वंश, सामाजिक पद, जाति, भाषा या देश किसी भी आधार पर कोई भी अन्तर नहीं किया जा सकता। न तो कोई व्यक्ति इनके आधार पर कोई विशेषाधिकार रख सकता है और न इनके आधार पर किसी को किसी अधिकार से वंचित किया जा सकता है। अन्य धर्मों की भाँति इस्लाम ने उपासक और भिक्षु जैसा कोई अन्तर भी नहीं माना है। धर्म की नजर में सभी व्यक्ति बराबर हैं, सभी के कर्तव्य और अधिकार एक जैसे हैं।

इस्लाम में शुरू से ही अपने अनुयायियों को सुसंगठित करने का सिद्धान्त रहा है। मुहम्मद साहब समझते थे कि उनके धर्म के माननेवालों के जीवन में समाज और राष्ट्र का बहुत बड़ा हाथ है; इसीलिए इस्लाम के माननेवालों को सामाजिक रूप से संगठित करने के साथ ही साथ वे समझते थे कि उन का राजनीतिक संगठन भी एक और शक्तिशाली रहे। इस प्रकार शुरू से ही इस्लाम में अपने अनुयायियों को एक सामाजिक और राजनीतिक बिरादरी के रूप में संगठित करने

का सिद्धान्त था। लेकिन इस धार्मिक विश्वव्यापी एक-राज्य की कल्पना में दूसरे धर्मवालों के लिए भी स्थान दिया गया। दूसरे धर्म के माननेवाले इस राज्य में अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रख सकते थे। ऐसे वर्गों का पद, उनके कर्तव्य और उनके उत्तरदायित्व इस्लाम के उस राज्य के साथ होनेवाले उनके इकरार के अनुसार निश्चित किये जाते थे।

पैग़म्बर मुहम्मद साहब के बाद इस्लाम के अनुयायियों का प्रधान खलीफा सार्वजनिक प्रार्थनाओं का नेतृत्व तो करता ही था, वह शासक भी था। खलीफा उमर ने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि मुस्लिम राज्य में दूसरे धर्म के माननेवालों के अधिकारों पर कोई आघात न होने पाये। उन्होंने तो कुरान की एक आयत का यह अर्थ निकाला कि इस्लाम के अनुयायियों और राज्य का भी यह कर्तव्य है कि दूसरे धर्म के दीन अनुयायियों की सहायता करें। जब इस्लाम का नेतृत्व उमय्यद लोगों को मिला, तो इस्लाम को पूरे संसार में फैलाने की नीति को स्वीकार कर, उसके पालन का प्रयत्न हुआ। प्रगट रूप में इस नीति का

परिणाम मुस्लिम-राज्य और शासन की सीमाओं को फैलाना था। इस्लाम के एक विश्वव्यापी धर्म-राज्य का विचार भी इसके साथ अभिन्न रूप से सदैव ही बना रहा। इस विचार का प्रभाव हम बाद के युगों में भी देखते हैं। जब इस्लाम का कई देशों में राज्य हो गया और जब उन विजित स्थानों में ऐसे स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गई, जोकि केन्द्र से एक ही शासन में नहीं बाँधे रखे जा सकते थे, उस समय भी इन देशों के शासकों के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वे खलीफा से अपने पद की स्वीकृति प्राप्त कर लें। ऐसा भी देखा गया है कि इन दूर देशों के शक्तिशाली शासक भी जिनको खलीफा की क्षीण राजनीतिक शक्ति से किसी भी प्रकार का भय या आशंका नहीं थी, खलीफा से स्वीकृति पाये बिना अपने शासन को पूर्ण रूप से उचित और वैधानिक नहीं मानते थे।

मध्य-युग में इस्लाम में 'सूफी सिद्धान्त' का उदय हुआ। सूफियों का प्रभाव हिन्दुस्तान में विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है। ये मानव-एकता और मानव-

प्रेम के सिद्धान्तों के समर्थक थे। इन का राजनीतिक जीवन से कोई मतलब नहीं था। ये प्रचारक नहीं थे। ये इस्लाम के अनुसार आदर्श जीवन का स्वरूप प्रस्तुत करते थे। इनका लक्ष्य दिलों को एक करना था। 'अल्लाह अपनी सभी कृतियों में निहित है'—इस विचार का उपयोग करके उन्होंने मानव-एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। हिन्दुस्तान में इन सूफियों में निज़ामुद्दीन औलिया का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने अपने खास शिष्यों को हिन्दुस्तान के कोने-कोने में भेजा, जहाँ वे आदमी-आदमी के दिलों को एक सूत्र में बाँधने का पवित्र और प्रशंसनीय कार्य करते थे।

हिन्दुस्तान में संसार की भौगोलिक एकता की कल्पना बहुत पहले से ही मिलती है। संसार को इकाई मान कर उसको खण्डों और द्वीपों में विभाजित किया गया था। लेकिन इस भौगोलिक एकता के लिये पूरे संसार के लिए एक ही राज्य स्थापित करने की आवश्यकता की ओर ध्यान नहीं दिया गया। ऐसे तो सार्वभौम सम्राट् की, जिसका पूरी पृथ्वी पर अधिकार हो, कल्पना मिलती है लेकिन उसको क्रियात्मक

रूप देने के प्रयत्न का सफल उदाहरण नहीं दिखलाई पड़ता । इसी प्रकार चक्रवर्ती सम्राट् का भी आदर्श था लेकिन वास्तविकता की दृष्टि से चक्रवर्ती सम्राटों का अधिकार भी सीमित क्षेत्र पर ही हो पाता था । ऐसे तो हिन्दुस्तान में कई विजेता और सम्राट् हुए, जिन्होंने देश के एक बड़े हिस्से को अपने अधिकार में किया, किन्तु इन्होंने हिन्दुस्तान के बाहर के देशों को भी अपने राज्य में मिलाने का कोई प्रयत्न नहीं किया ।

हमारी दृष्टि से हिन्दुस्तान का महत्व राजनीतिक क्षेत्र में या एक-राज्य की कल्पना के लिए नहीं है । इसका उल्लेखनीय योगदान सांस्कृतिक जीवन में है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् सारी पृथ्वी ही कुटुम्ब है यह आदर्श प्राचीन हिन्दुस्तान में रखा गया था । परोपकार की भावना और प्राणि-मात्र के सुख और हित की व्यवस्था करना पुण्य समझे जाते थे । सभी आदमी बराबर हैं इस विचार के पीछे दार्शनिक आधार भी दिया गया था । सभी में आत्मा, जिसे ब्रह्म का ही स्वरूप या अंश कहा गया है, एक ही है । इससे आदमी-आदमी की बराबरी के विचार को बल मिला ।

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और भाई-चारे की दृष्टि से हिन्दुस्तान का सबसे महत्वपूर्ण आदर्श धार्मिक सहिष्णुता का है। प्रारंभ से ही यह विचार हमें मिलता है कि सत्य और ईश्वर एक ही है, लेकिन लोग उसे विभिन्न प्रकार से कहते हैं। यह भी कहा गया कि सत्य के स्वरूप के विषय में किन्हीं भी दो ग्रन्थों या विचारकों में मत की एकता नहीं होती। विभिन्न धर्मों को ईश्वर तक पहुँचने के अलग-अलग रास्ते कहा गया। सभी अपने स्थान पर हैं और सभी सत्य को अपने दृष्टिकोण से देखते हैं। इस प्रकार व्यापक और सहिष्णु दृष्टि रखने पर दूसरों से विरोध और संघर्ष की संभावना नहीं रह जाती।

इस उच्च विचार का हिन्दुस्तानियों ने व्यवहार में भी उपयोग किया। हिन्दुस्तान का द्वार हमेशा से दूसरे देश, धर्म, जाति और भाषा के लोगों के लिये खुला रहा है। समय-समय पर दूसरे धर्मों के लोग यहाँ आये और हिन्दुस्तान ने उनको अपना बना लिया। पारसी, ईसाई और इस्लाम के अनुयायी, हिन्दुस्तान में आकर, हिन्दुस्तान के ही हो गये। दूसरे धर्म के लोग

अपने देश में पीड़ित होकर या अन्य कारणों से अपना देश छोड़ कर हिन्दुस्तान में आये और हिन्दुस्तान ने उनका स्वागत किया।

विश्व-प्रेम, सहिष्णुता और भाई-चारे की जो प्राचीन परम्परा है, वह भारत में अभी तक बनी है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ टैगोर जो बंगला भाषा के ही नहीं विश्व-साहित्य के अमर कलाकार हैं, उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार का समर्थन किया। वे स्वयं पूर्व और पश्चिम

की सांस्कृतिक परम्पराओं के मधुर मिलन के भव्य उदाहरण थे । मानवता के पुजारी संसार में प्रसिद्ध और आदर और स्नेह के पात्र गांधी जी ने प्रेम और सद्भावना के आदर्श को सदैव निभाया । उनकी प्रार्थना
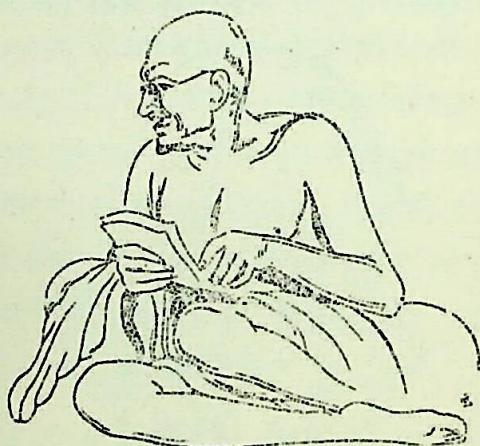
महात्मा गाँधी

में विश्व के सभी धर्मों और विचारों को सुन्दर रूप से मिला कर समन्वय, सहिष्णुता और सद्भाव का अति सुन्दर उदाहरण रखा गया था ।

बौद्ध-धर्म का आरंभ नैतिक शिक्षाओं के रूप में हुआ था । बौद्ध-धर्म में जिन गुणों को महत्व दिया

गया है, उनमें करुणा और मैत्री उल्लेखनीय हैं। इस
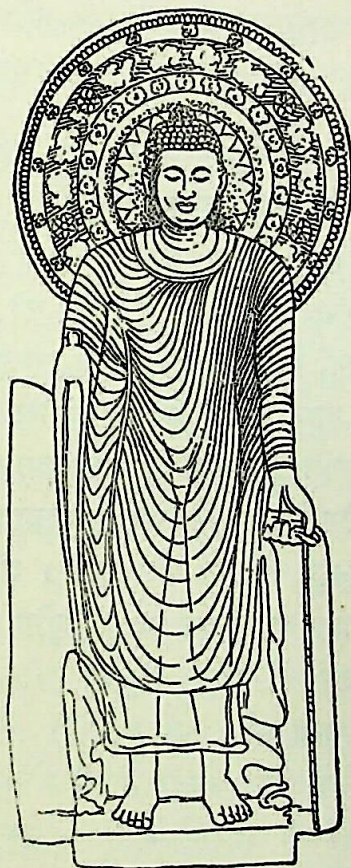
गौतम बुद्ध

धर्म में सभी प्राणियों के लिये प्रेम की भावना रखना

और उनकी सहायता करना विशेष महत्व रखते हैं। प्रारंभ से ही बौद्ध-धर्म ने सभी मनुष्यों के हित और उनके सुख के कार्यों को बढ़ावा दिया है।

बौद्ध-धर्म मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं मानता। मानव-समता के अपने उच्च विचार के कारण बौद्ध-धर्म को संसार में विशेष गौरव प्राप्त है। जन्म और दूसरे भेद उत्पन्न करनेवाले कारणों को बौद्ध-धर्म में कोई स्थान नहीं दिया गया। अपने इस गुण के कारण बौद्ध-धर्म ने बहुत शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ले लिया था। यही कारण है कि थोड़े समय में बौद्ध-धर्म की शान्ति और प्रेम की शिक्षायें हिन्दुस्तान की सीमाओं के बाहर दूर-दूर देशों में फैल गयीं। बौद्ध-धर्म अपने इतिहास के शुरू में ही एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बन गया था। बौद्ध-धर्म के द्वारा सद्भाव और अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे के भाव बढ़े। प्रारंभ से ही एशिया के अनेक देशों के धार्मिक बौद्ध बिना किसी भेद-भाव के बौद्ध धार्मिक स्थानों की यात्राएँ करते थे, एक-दूसरे से प्रेम और सद्भाव से मिल कर उनसे कुछ सीखते थे।

'मार्क्सवाद' मूलतः सामाजिक, आर्थिक और

राजनीतिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं से संबंधित एक विचारधारा है। इसके माननेवाले इसके सभी विचारों में इतना अधिक गहरा विश्वास रखते हैं कि उनके भावों की तीव्रता और उनका उत्साह उनके पूरे जीवन और व्यक्तित्व पर छा जाते हैं। वे उसमें वैसे ही विश्वास रखते हैं, जैसे कि किसी धर्म का उत्साही अनुयायी अपने धर्म के लिये तत्पर रहता है। अब इतिहास, दर्शन और समाजशास्त्र के कई विद्वान् मार्क्स-वाद की गणना धर्मों के अन्तर्गत करने लगे हैं। मार्क्स-वाद को धर्म की कोटि में लाने का केवल यही कारण नहीं है कि इसमें विश्वास रखनेवाले इसके सिद्धान्तों में धार्मिक उत्तेजना और उत्साह जैसे विचार रखते हैं। मार्क्सवाद में धर्म का कोई महत्व नहीं है। मार्क्सवादी विचारक तो धर्म को, समाज की चेतना को कुंठित करने के लिये, शोषक-वर्ग के द्वारा निर्मित अफीम कहते हैं। किन्तु यह तो मानव-प्रकृति है कि वह अपने तीव्र भावों और विचारों के लिये कोई केन्द्र या आकर्षण ढूँढ़ लेती है। मार्क्सवाद धर्म को उसके उच्च महत्व के पद से गिराने के अपने प्रयत्न में अपने अनुयायियों के लिये स्वयं एक धर्म बन गया

है। मार्क्सवाद के अनुयायी तो उस का आदर और पालन अपने धर्म के रूप में करते ही हैं, मार्क्सवाद के विरोधी भी मार्क्सवाद को उसके अनुयायियों का धर्म ही मानते हैं। इसलिये यह उचित ही होगा कि हम यहाँ पर यह देखें कि मार्क्सवाद के रूप में नये धर्म ने कहाँ तक मानव एकता और समता तथा विश्व-संगठन के भावों को बल दिया है।

मार्क्सवाद के कुछ सिद्धान्तों, विचारों या कार्यों से विरोध होने के कारण आज के समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग मार्क्सवाद में केवल अवगुण ही अवगुण देखता है। हम मार्क्सवाद के इन दोषों और त्रुटियों का समर्थन नहीं करते किन्तु यदि मार्क्सवाद ने जाने या अनजाने किसी उच्च आदर्श के हाथ मजबूत किये हैं तो हमें इसके लिये उसका आभारी होना चाहिये। मार्क्सवाद के वर्ग-विरोध के सिद्धान्त के कारण कुछ लोगों के हृदय में यह विश्वास बन गया है कि मार्क्सवाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग के भावों का समर्थन नहीं कर सकता। ऐसे विचार गलत हैं और वर्तमान काल में मार्क्सवाद के विचार और कार्य दोनों ही ऐसे

भावों की भूल दिखलाते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा को मानने वाले कई देश संयुक्त-राष्ट्र-संघ के महत्वपूर्ण सदस्य हैं और उसके आदर्शों की पूर्ति के लिये वे अपना सहयोग देते रहते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा अब यह मानने लगी है कि साम्यवादी क्रान्ति को बढ़ाने के लिये शान्तिपूर्ण उपायों से भी काम लिया जा सकता है और इसके लिये वह संसार के पिछड़े हुये देशों की आर्थिक और वैज्ञानिक सहायता करने के लिये भी तैयार रहती है।

कार्ल मार्क्स ने अपने घोषणा-पत्र (मैनिफ़ेस्टो) में संसार के सभी श्रमजीवियों के हित और उनके भावों की एकता की बात कही। उसने देशप्रेम की भावना और राष्ट्रीय सरकारों की निन्दा की क्योंकि ये पूँजीवादी शासकों के हितों का समर्थन करती हैं। उसने संसार के सभी श्रमजीवियों को संगठित होने का सन्देश दिया। मार्क्सवाद के अनुसार श्रमजीवियों की विजय से सभी वर्गों का अन्त हो जायगा और इस प्रकार पूरी मानवता समानता और एकता के सूत्र में बँध जायगी। इस ध्येय की पूर्ति के लिये समाजवादियों

के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की गई। इसमें सभी देशों के साम्यवादी सम्मिलित थे। ये अपने देश के शासक-वर्ग की शक्ति को बढ़ने से रोकने का और सभी प्रकार के साम्राज्यवादी अथवा राष्ट्रीय उत्साह के विरोध का प्रयत्न करते थे और सोचते थे कि उनके मित्र साम्यवादी भी अपने-अपने देशों में इसी प्रकार कार्य कर रहे होंगे। इस आन्दोलन को प्रथम विश्व-महायुद्ध के शुरू होने पर अपनी कमजोरी मालूम हुई। फिर भी रूस के अतिरिक्त इंगलैण्ड, जर्मनी और अमेरिका में इसका प्रभाव बना रहा।

रूस ने अपनी क्रान्ति की सफलता के बाद अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी-संघ के आदर्श को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। यद्यपि संघ के ऊपर केन्द्र का नियंत्रण कड़ा है फिर भी सिद्धान्त रूप से सदस्य गणराज्यों को स्वतंत्रता है और वे संघ से संबंध-विच्छेद कर सकते हैं। संघ-राज्य की वास्तविक एकता का रहस्य कम्यूनिस्ट पार्टी है जिसका संगठन शक्तिशाली और व्यापक है। यद्यपि इस संघ-राज्य की नीति और शासन के कार्यों में से बहुत-सी बातों की आलोचना

की जा सकती है, फिर भी हमें यह मानना होगा कि इसे राष्ट्रों और जातियों के भेद की समस्या को सुलझाने में काफी सफलता मिली है। संघ में सभी प्रकार के रूसी, तारतारी, यहूदी और एशिया की अनेक जातियों को पूर्ण समानता प्राप्त है। सभी गणराज्यों को अपनी भाषा और सांस्कृतिक परम्परा के पोषण की समुचित सुविधा मिलती है। कम्यूनिस्ट पार्टी के नेतृत्व की दृष्टि से भी विभिन्न राज्यों के लोगों में भेद नहीं किया जाता। किसी भी राज्य का व्यक्ति अपने कार्यों के अनुसार पार्टी के सर्वोच्च पद तक पहुँच सकता है। आर्थिक क्षेत्र में भी प्रादेशिक स्वतंत्रता के साथ ही साथ केन्द्रीय अनुशासन और नीति के द्वारा एकता स्थापित की गई है। उत्पादन, उपभोग और व्यापार सभी केन्द्रीय योजना के अनुसार होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्सवाद ने एक सीमित रूप में मानव-समानता और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का समर्थन किया है और उसे संभव बनाने के लिये प्रयत्न किया है। किन्तु दुर्भाग्य से पूँजीवादी देशों के प्रति अपने विरोध के कारण मार्क्सवाद अपनी योजना

में दूसरे देशों को अधिक महत्व नहीं देते। किन्तु जैसा हमने ऊपर कहा है मार्क्सवादी नेताओं के विचारों में भी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। संसार के अन्य देशों और राष्ट्रों के प्रति उनके विरोध की कटुता घटती हुई मालूम पड़ती है।

ऊपर के इस विवरण से हमने देखा कि मनुष्य के इतिहास के प्रारंभ से ही आदमी विश्व की एकता की ओर तेज कदमों से बढ़ा है। भाई-चारे और विश्व-प्रेम के विचार कोई नये नहीं हैं। संसार के सभी प्रमुख धर्म ऐसे उच्च विचारों का समर्थन करते हैं।

आज आवश्यकता इस बात की है कि संसार के सभी आदमी यह समझें कि हम एक ही परिवार के सदस्य हैं और अपनी बिरादरी के हाथ मजबूत करके ही हम सब का और उसके साथ ही अपना भला कर सकते हैं। संसार का कल्याण इसी में है।